# असफल स्कूल – जॉन होल्ट

प्रस्तावना

हाल के वर्षों में मुझे बहुत से पालकों और शिक्षकों से बातचीत का मौका मिला है। इससे मुझे लगता है कि इस पुस्तक में – इसके विचार, प्रश्न और टिप्पणियों में उनकी गहरी रुचि होगी। इस पुस्तक में उन छोटे-छोटे लेखों को संकलित किया गया है जो पहले किसी अन्य पत्रिका या किताब में छप चुके हैं। कुछ लेखों में मैंने थोड़ी बहुत काट-छाँट भी की है और कुछ का दुबारा लिखा है परंतु कुछ लेख अपने मूल रूप में ही हैं। यह संकलन भिन्न-भिन्न कारणों से, बहुत से लोगों के लिए उपयोगी होगा इसलिए इसे जल्दी-से-जल्दी उपलब्ध कराना भी ज़रूरी है।

हमारे बहुत से स्कूल, उनसे जुड़े लोगों और अन्य कई बातों में बहुत तेज़ी से परिवर्तन आ रहा है। मेरे भी विचार बदल रहे हैं। इसलिए जहां कहीं मुझे अपने सोच या शिक्षा में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नज़र आया है वहां-वहां मैंने इन लेखों में, एक छोटी टिप्पणी जोड़ दी है।

सेंटर फार द स्टडी आफ डेमोक्रैटिक इंस्टीट्यूशन्स, डबलडे, हारपर्स मैगज़ीन, लॉइफ, न्यूयार्क रिव्यू आफ बुक्स, न्यूयार्क टॉइम्स मैगज़ीन, पी टी ए मैगज़ीन, रेडबुक, स्टरलिंग इंस्टीट्यूट, और येल एलुमिनाई मैगज़ीन का मैं शुक्रिया अदा करना चाहूंगा क्योंकि इन्हीं में यह लेख सबसे पहले छपे थे और इनके ही सहयोग से लेखों के इस संकलन को छापना संभव हो पाया है।

जॉन होल्ट

बर्कले, कैलिफोर्निया

## सच्ची सीख

सच्ची सीख क्या है? वही, जो स्थाई और उपयोगी हो। जिससे हम समझदारी के काम कर सकें और आगे भी सीख सकें। ऐसी सीख केवल सीखने वाले के अनुभवों, रुचियों और प्रश्नों पर निर्भर करेगी।

हरेक बालक में, अपनी दुनिया को समझने की एक असीमित, अंदरूनी ललक होती है और वो सक्षम बनना चाहता है। वो स्वतंत्रता चाहता है। जो बातें सच में, बच्चे की समझ, खुशी, विकास की क्षमता, स्वतंत्रता और स्वाभिमान को बढ़ाती हैं उन्हीं को हम सच्ची शिक्षा कह सकते हैं।

शिक्षा वो चीज़ है जिसे हर इंसान खुद के लिए हासिल करता है। कोई दूसरा उसे दे नहीं सकता है।

नवयुवक अपनी शिक्षा से आखिर क्या चाहते हैं? पहले, वो अपनी आसपास की दुनिया को बेहतर तरह से समझना चाहते हैं। दूसरे, वो अपने विकास की क्षमता बढ़ाना चाहते हैं। तीसरे, वो ऐसे काम करना चाहते हैं जिनमें वो अपनी विशेष रुचियों और कुशलताओं का इस्तेमाल करके असली ज़िंदगी की समस्याओं को सुलझा सकें और इंसानियत का भला कर सकें।

समाज चाहता है कि स्कूल, बच्चों के लिए तीन चीज़ें करें। पहली, बच्चों को उनकी परंपराओं और संस्कृति के उच्च मूल्यों को सिखाएं। दूसरी, बच्चे जिस दुनिया में जीते हैं, उससे उन्हें अवगत कराएं। तीसरी, बच्चों को किसी रोज़गार और अंत में सफलता के लिए तैयार करें। परंपरागत तौर पर इन सभी ज़िम्मेदारियों को, समाज और समुदाय ने ही निभाया है। इनमें से एक भी काम स्कूल अच्छी तरह नहीं करता है। ये काम न तो स्कूल को कभी अकेले करने चाहिए और न ही यह उसके अकेले के बस की बात है। अगर आज स्कूल मुश्किल में हैं तो उसका यह एक प्रमुख कारण है। उन्हें ऐसे बहुत से काम और भार सौंप दिए गए हैं जिनपर उनका सर्वाधिकार है ही नहीं।

स्कूल एक साधन हो, परंतु एकमात्र नहीं। स्कूल ऐसा साधन हो जहां से बच्चे और अन्य लोग, अपनी सतत शिक्षा के लिए जो चाहें ले सकें। स्कूल ऐसी जगह हो जहां लोग जाकर, जो चाहें वो सीख सकें और अपनी

कुशलताओं को विकसित कर सकें। अगर बच्चा खुद सीख रहा हो तो उसे, किसी वयस्क की भांति अपनी मर्ज़ी से, स्कूली साधनों को चुनने की छूट हो। शिक्षा की अनंत राहें हैं। सीखने वाला अपना पथ खुद खोजने, चुनने, बनाने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र हो।

बच्चे चाहते हैं कि वो जल्दी-से-जल्दी समाज में, किसी-न-किसी रूप में उपयोगी हों। हमें उन्हें इस बात के मौके देने चाहिए। अगर कोई बालक या वयस्क समाज के लिए कोई उपयोगी काम करना चाहता हो तो उसे उनसे वंचित रखना इंसानियत के खिलाफ एक अपराध होगा। दरअसल, शिक्षा और काम के बीच का अंतर, या विरोध एकदम मनमाना, काल्पनिक और हानिकारक है।

जब तक बच्चों की सीखने की ललक और उनके विकास की क्षमता में हमारा विश्वास नहीं होगा तब तक उनकी सहायता करना तो दूर, हम उल्टे उनकी शिक्षा में बाधक ही बनेंगे।

1968

## थोड़ी सी सीख

आजकल तमाम प्रसिद्ध बुद्धिजीवियों से हमें, जानने और सीखने के सिद्धांत के बारे में सुनने को मिलता है। एक ओर जहां ये सच और उपयोगी है वहां इसमें कुछ बुनियादी गल्तियां भी हैं। सरल शब्दों में इस सिद्धांत का सार इस प्रकार है। बच्चे के सीखने और जानने की प्रक्रिया तीन चरणों से गुज़रती है। पहले चरण में बालक केवल वही जानता है जिसे वो महसूस करता है। वो केवल अपने समीप की वास्तविकता से ही अवगत होता है। दूसरे चरण में वो अपनी इंद्रियों के बोध से दुनिया को अपनी स्मृति में समेटकर उसका एक मानसिक मॉडल बनाता है। इस मॉडल के कारण ही बच्चा उन तमाम चीज़ों के अस्तित्व के बारे में जान पाता है जो उसकी इंद्रियों के एकदम समीप नहीं हैं। सीख के तीसरे और सबसे अग्रणी चरण में बालक, दुनिया के बारे में अपनी समझ को शब्दों और प्रतीकों में व्यक्त कर पाता है। इन प्रतीकों और कुछ सर्वमान्य तार्किक नियमों के आधार पर, वो असली दुनिया के बारे में कई अनुमान लगा पाता है।

पियाजे के प्रयोगों में से अगर हम एक उदाहरण लें, तो यह बात अधिक साफ हो जाएगी। इस प्रयोग का वर्णन जेरोम ब्रूनर ने किया है।

एक पांच वर्ष के बच्चे के सामने दो बीकर रखें, जिनमें पानी का स्तर एक ही हो। बच्चा दोनों को समान बताएगा। अब एक बीकर के पानी को ऐसे पारदर्शी बर्तन में डालें जो ऊंचा और सकरा हो, और फिर पूछें कि क्या दोनों में समान मात्रा में पानी है। बच्चा इससे इंकार करेगा और सकरे बर्तन की ओर इशारा करके कहेगा, 'क्योंकि इसमें पानी ऊंचा है।' बच्चे जो कुछ देखते हैं उससे बेवकूफ बन जाते हैं। उनके पास इसके अलावा कोई और चारा भी नहीं होता। परंतु थोड़ा बड़े बच्चे इस तरह बेवकूफ नहीं बनते। वो कहते हैं कि दोनों बर्तनों में पानी की मात्रा समान ही रहेगी। वे अपने अनुभवों की इन शब्दों में व्याख्या करते हैं, 'यह देखने में ज़रूर कुछ अलग लगता है परंतु असलियत में ऐसा कुछ भी नहीं है', या फिर 'वो ऊंचा दिखता है, पर असल में वो उसके सकरे होने के कारण है', आदि।

बड़े बच्चे ऐसा इसीलिए कह पाते हैं क्योंकि उन्होंने इस समस्या को शब्दों के सूत्रों से हल कर लिया है। वो अब जो कुछ देखते हैं उससे बेवकूफ नहीं बनते हैं। 'भाषा के कारण ही सिर्फ तात्कालिक भ्रमों के आधार पर ही बच्चे अपने निर्णय नहीं लेते हैं।'

हां, ऐसा ही होता है। या, हो सकता है। पर इस तर्क से कुछ बेतुकी बातें भी उभर सकती हैं। सदियों से लोग कहते आए हैं - क्योंकि भार के कारण ही कोई वस्तु नीचे गिरती है इसलिए भारी चीज़ों को, हल्की चीज़ों की तुलना में, अधिक तेज़ी से नीचे गिरना चाहिए। जब हम वास्तविकता को, शब्द प्रतीकों के आधार पर आंकने लगते हैं तो सच्चाई की बजाए हम निरर्थक नतीज़ों पर पहुंच जाते हैं।

अधिकांश शैक्षिक सिद्धांत, पियाजे के काम पर ही आधारित हैं। उनमें कहां गलती है इसे समझने के लिए पियाजे के एक सरल प्रयोग को ही लें। उन्होंने एक छोटे बच्चे के सामने, बराबर लंबाई की दो छड़े रखीं। दोनों छड़ों के सिरे एक-दूसरे को छू रहे थे। फिर उन्होंने बच्चे से पूछा कि, उनमें से कौन सी छड़ लंबी है, या फिर

वो समान लंबाई की हैं। बच्चा अक्सर छड़ों को समान लंबाई की ही बताता। फिर पियाजे ने एक छड़ हटाई जिससे दोनों छड़ों अब दूर हो गयीं। फिर उन्होंने दुबारा, वही प्रश्न पूछा। इस बार बच्चे ने उनमें से किसी एक छड़ को लंबा बताया। पियाजे को लगा कि बच्चे के लिए एक छड़ लंबी हो गई है। इससे वो इस नतीजे पर पहुंचे कि एक विशेष उम्र से कम के बच्चे, लंबाई के संरक्षण के नियम को समझने में असमर्थ होते हैं। पियाजे के सवाल को शायद बच्चे ने सही प्रकार समझा ही नहीं। यहीं पर शायद पियाजे मात खा गए। बच्चा 'लंबे' शब्द से आखिर क्या समझता है? इसका मतलब होता है उससे, जो बाहर निकले। 'कौन सा लंबा है?' इस प्रश्न के सही मतलब को बच्चा बहुत से अनुभवों के बाद ही समझ पाता है। 'अगर छड़ों को एक सिरे को सटा कर रखा जाए तो किस छड़ का दूसरा सिरा बाहर निकलता है?' बहुत से प्रश्नों जैसे 'कौन सा लंबा है?' का उत्तर उनके पूछे जाने के तरीके पर निर्भर करता है। अगर आपको यह तरीक नहीं मालूम है तो आप प्रश्न के मतलब को भी नहीं समझ पाएंगे।

संरक्षण से जुड़े बहुत से प्रश्न, और कई अन्य सिद्धांत भी इसी गलती के शिकार हैं। पहले बच्चे को एक मिट्टी का बड़ा लौंदा दिखाया जाता है। फिर प्रयोगकर्ता उसकी कई छोटी गोलियां बनाता है या उससे एक लंबा सांप बनाता है। वो मिट्टी के बड़े लौंदे का रूप बदलता है फिर बच्चे से पूछता है कि मिट्टी पहले से ज़्यादा है, कम है, या उतनी ही है। (जब इस प्रयोग पर आधारित फिल्म को कुछ मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाविदों को दिखाया गया तो किसी ने भी यह टिप्पणी नहीं करी कि बच्चा अधिकांश समय मिट्टी के लौंदे की ओर नहीं, बल्कि प्रयोगकर्ता के चेहरे को देखकर - सही, वांछित उत्तर खोज रहा था।) बच्चे ने हर बार एक ही जवाब दिया 'ज़्यादा'। सैद्धांतिक लोग यही कहेंगे, 'वाह! वो ज़्यादा इसलिए कहता है क्योंकि उसे देखने में वो ज़्यादा लगता है।' परंतु एक छोटे बच्चे के लिए 'क्या यह अधिक है?' का यह मतलब होता है 'क्या यह देखने में अधिक लग रहा है?' भला इसके अलावा इसका और क्या मतलब हो सकता है? इस चरण में बच्चे के अनुभव बहुत कम होते हैं और वो सामने की चीज़ के परे देखने में असमर्थ होता है।

मैंने कई बार सोचा है: अगर सच में छोटे बच्चे पियाजे के मुताबिक सोचते तो इस ज्ञान से वो किस प्रकार काम करते? अच्छी चीज़ों - खिलौनों, मिठाई, केक या शर्बत की मात्रा अधिक करने के लिए क्या बच्चे, उन्हें पहले बांटते और फिर फैलाते। पर आम ज़िंदगी में बच्चे मिठाई के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं करते, और न ही वो शर्बत को कई गिलासों में डालते हैं। अगर बच्चे सच में कुछ करते हैं तो वो बिल्कुल इसका उल्टा - वे तमाम चीज़ों को इकट्ठा करके उनका एक बड़ा ढेर बनाते हैं। मैं अपने आपसे यह प्रश्न भी पूछता हूं - किस प्रकार के अनुभवों से बच्चे तरल संरक्षण का नियम सीखेंगे? आप गिलास में जितना पेय होगा आप केवल उतना ही पेय पी पाएंगे। इस बात को आप किस प्रकार सीखेंगे? अगर शर्बत कम मात्रा में होगा तो आप उसकी हरेक चुस्की को धीरे-धीरे मज़ा लेते हुए पिएंगे। जब मुझे बताया गया कि अफ्रीका के रेगिस्तानी देशों में, तरल संरक्षण की समस्या को बच्चों ने बहुत कम उम्र में ही समझ लिया, तो इसमें मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ। असल में संरक्षण सिद्धांत के कई पहलुओं को सभी बच्चे, बोलना सीखने या परिभाषा रटने से पहले ही सीख जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार छोटे बच्चे अपनी इंद्रियों से ही बेवकूफ बन जाते हैं क्योंकि उनके पास बदलती दुनिया को परिभाषित करने के लिए शब्द नहीं होते। परंतु जिस दुनिया को बच्चे और बड़े देखते हैं, उसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थान से हटते ही अन्य वस्तु के सापेक्ष अपना आकार, माप और स्थिति बदलती है। बच्चे को सारी दुनिया, रबड़ की बनी हुई लगती है। परंतु तीन-चार साल, या उससे भी छोटे बच्चे इतना ज़रूर समझते हैं कि रबड़ जैसी दिखाई वाली दुनिया, वास्तविक दुनिया नहीं है। वो यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनसे दूर जाती हुई मां सिकुड़ती नहीं है। पियाजे और उनके साथी जिस समझ का परीक्षण कर रहे थे उससे यह समझ कहीं अधिक सूक्ष्म होती है।

इससे जो बुनियादी गलती उपजती है वो इस प्रकार है। लोग मान लेते हैं कि समझ मूलरूप से शाब्दिक और सांकेतिक होती है और सोचने का मतलब इन संकेतों और प्रतीकों पर कुशलता हासिल करना होता है। इससे पैदा हुई भ्रांतियां केवल कक्षा तक ही सीमित नहीं रहतीं। हम चीज़ों के किसी समूह को समान 'लेबिल' इसलिए देते हैं क्योंकि किसी एक परिस्थिति में उनके महत्वपूर्ण गुणधर्मों में समानता होती है। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि वे

चीज़ें स्थाई रूप से समरूप बनी रहेंगी। अगर हम ऐसा सोचेंगे तो हम वास्तविकता से बहुत परे होंगें और बहुत मुश्किल में फंस जाएंगे। मिसाल के लिए हम अपनी विदेश नीति को ही लें जिसका आधार अभी भी यही है कि सभी कम्यूनिस्ट जोज़ेफ स्टालिन जैसे ही होते हैं। हम अभी भी यही मानते हैं कि कक्षा के सभी अनुभवों और सिद्धांतों की समझ को, एक व्यक्ति किसी दूसरे को, केवल शब्दों द्वारा ही सिखा सकता है। हम हमेशा ज़ोर से बोल कर ही लिखित सामग्री की व्याख्या करते हैं। पर सभी अनुभवी शिक्षक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे शब्द बच्चों की समझ बढ़ाने की बजाए उन्हें उलझाते अधिक हैं। कक्षा में ऐसे बेशुमार बच्चे होते हैं जो शब्दों पर विश्वास खो चुके होते हैं। वो शब्दों का सार्थक मतलब निकालने की अपनी क्षमता को भी गंवा चुके होते हैं और जब तक उनसे कुछ नकल करने के लिए नहीं कहा जाए वो कक्षा में खाली बैठे रहते हैं।

एक बात हमें हमेशा याद रखनी चाहिए। शब्द मालगाड़ी के डिब्बों जैसे होते हैं। उनमें असली ज़िंदगी से सरोकार रखने वाली मतलब की चीज़ें भरी हो सकती हैं अथवा नहीं। जब हमें मतलब भरे शब्द सुनने को मिलते हैं तब हम उनसे अपनी दुनिया का एक सही, बिना शब्दों वाला मानचित्र गढ़ पाते हैं। नहीं तो बाकी शब्द, हमारे दिमाग में सिर्फ मंडराते रहते हैं। हम उन्हें थूक सकते हैं या नियमों के अनुसार उन्हें उलट-पलट सकते हैं परंतु वे हमारी, वास्तविकता की समझ पर कोई असर नहीं डालते। स्कूल की सबसे दुखदायी बात है कि बच्चे वहां जो भी शब्द सुनते हैं, वो उनके लिए निरर्थक होते हैं और उनकी असली समझ को बिल्कुल भी नहीं बढ़ाते। उल्टे बच्चे उनसे और उलझन में पड़ जाते हैं। शब्दों की लफ्फाज़ी को बच्चे, समझ मान बैठते हैं। यह बहुत ही खतरनाक भ्रम है। राबर्ट फ्रॉस्ट ने अपनी कविता 'एट वुडवर्डस गार्डन' में कहा है: 'उन चीज़ों के बारे में जानना जो कि मायने रखती हैं।' सैद्धांतिक व्यक्ति चाहें कितने भी महान हों, उनकी समीकरणें चाहें कितनी ही सटीक हों, फिर भी बेसबॉल के खेल में गेंद के परिपथ को वे, कार्ल यैसट्रैमस्की या विली मेइज़ जैसे मंझे हुए खिलाड़ियों से बेहतर नहीं जान सकते। उनके पास शब्द और आंकड़े भले ही हों, परंतु खिलाड़ी के पास जो मॉडल है वो वास्तविकता में काम करता है। खिलाड़ी को यह पता होता है कि हवा में उछलती गेंद कहां पर जाकर गिरेगी - जो वास्तव में सच्चा ज्ञान है।

पाठ्यक्रम सुधारकों के बीच आजकल जो नया वाक्य प्रचलित है वो है 'अवधारणा का निर्माण'। इस पर तमाम अलग-अलग मत हैं। पुराने लोगों के अनुसार बच्चों को तथ्य सिखाना चाहिए क्योंकि जब वे बहुत सारे तथ्य जान लेंगे तभी हम उन्हें, अवधारणाओं के बारे में सोचना सिखा पाएंगे। परंतु सुधारकों के अनुसार अवधारणाओं को सीधे सिखाना चाहिए। सुधारकों को इन दोनों तरीकों में एक मूल अंतर लगता है, परंतु असल में ऐसा है नहीं। दोनों ही समूह, बच्चों के दिमाग में, शब्दों की माला बोने में लगे हैं। सुधारकों के अनुसार शब्दों की कुछ मालाएं, अन्य की तुलना में, अधिक महत्वपूर्ण होती हैं - यानि विचारों में भी श्रेणीबद्धता होती है। कुछ विचार, मास्टर-विचार होते हैं। वे प्रमुख होते हैं और मास्टर-चाभी की तरह ही उनसे, इमारत के बाकी सारे दरवाज़े खुल जाते हैं। इन मास्टर-विचारों को जानने के बाद छात्र, अन्य किसी चीज़ को आसानी से समझ सकता है। ऊपरी तौर पर यह अवधारणा काफी संभव और आकर्षक लगती है। परंतु सुधारक और बहुत से अच्छे शिक्षक एक बात भूल जाते हैं कि हरेक इंसान को, अपने हालात के अनुसार खुद अपनी मास्टर-चाभी बनानी होगी। हरेक व्यक्ति को अपने खास तरीके से, अपनी दुनिया को समझना होगा और कोई भी दो लोग, इस काम को एक तरीके से नहीं करेंगे। अगर समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम निर्माताओं का बस चले तो एक दिन छठी कक्षाओं के सभी बच्चे यह जान लेंगे कि: मनुष्य, इंसान इसलिए बने क्योंकि उनके अंगूठे, उंगलियों का विरोध करते हैं; उनके पास औज़ार होते हैं; भाषा होती है - जिसमें शब्दों के क्रम के अनुसार मतलब बदलता है। विशेषज्ञों के लिए शब्दों से लदे मालगाड़ी के इन डिब्बों में, ढेर सारा मतलब छिपा होता है। इस सबसे शायद छात्रों की सूची में कुछ अन्य शब्द और जुड़ जाएं। हो सकता है कि उन शब्दों के सहारे बच्चे परीक्षा में सफल हो जाएं। परन्तु असल में ये शब्द एकदम बेमतलब के होंगे।

सैद्धांतिक और सुधारक दोनों गुटों को अभी तक यह नहीं पता है कि कक्षाएं बच्चों को कैसी लगती हैं और उनमें आखिर क्या होता है। एक काबिल और समझदार गणितज्ञ डेविड पेज के अनुसार 'जब बच्चे गलत उत्तर देते हैं तो उसका प्रमुख कारण है कि बच्चे किसी अन्य प्रश्न का उत्तर दे रहे होते हैं।' असल में यह तो सच्चाई की बस शुरुआत है। कभी-कभी बच्चे गलत उत्तर इसलिए देते हैं क्योंकि वे प्रश्न ही नहीं समझ पाते हैं। परंतु

अधिकांश बार समस्या इससे कहीं अधिक जटिल होती है। ऐसा नहीं है कि उन्हें प्रश्न समझ में ही नहीं आया हो। अक्सर बच्चों को, प्रश्न की प्रकृति और उसका उद्देश्य ही समझ में ही नहीं आता है। कभी-कभी बच्चे गलत प्रश्नों के उत्तर भी देते हैं। परंतु मुख्य बात यह है कि उनके उत्तर, कभी भी किसी वास्तविक समस्या से जुड़े हुए नहीं होते हैं। प्रश्न का मतलब है कि वो, किसी समस्या की ओर, बच्चों का ध्यान आकर्षित करे। ज़्यादातर बच्चों के साथ इसका बिल्कुल उल्टा होता है। प्रश्न, बच्चों का ध्यान समस्या से दूर हटाते हैं और उन्हें किसी जटिल हल को खोजने या चोरी करने की ओर उकसाते हैं। पर हमें इसके भी परे देखना चाहिए। सच्चाई तो यह है कि स्कूल में बच्चे जो भी उत्तर देते हैं उन्हें उनके सही होने की, खुद भी उम्मीद नहीं होती। कभी-कभी बच्चे खुद चाहते हैं कि उनके उत्तर सही न हों। बच्चे अंधेरे में, बिना सिर-पैर के तुक्के लगाते हैं जिसका एकमात्र उद्देश्य समस्या से दूर भागना होता है। बच्चे जानबूझ कर फेल होते हैं, जिससे कि उन्हें बेकार और उबाऊ काम करने का दुख और अपमान न झेलना पड़े।

अगर शिक्षा के सुधारकों को अभी भी धुंधला दिख रहा है तो इसका मतलब यह नहीं कि उनकी आंखें खराब हैं। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि, बारीकी से छानबीन करने से पहले ही वो सिद्धांत छौंकने लग जाते हैं। फिर उनके ये सिद्धांत खुद उनके और दूसरे के सामने, रोड़ा बन जाते हैं। दूसरा, स्कूलों के साथ उनका सम्पर्क एकदम सतही और कृत्रिम होता है। स्कूल आखिर क्या बला है? इसका उन्हें कोई अंदाज़ नहीं होता। केवल सफल और आत्मविश्वासी स्कूल ही इन ऊंचे ओहदों के आगंतुकों को, अपने स्कूलों में घुसने की इज़ाजत देते हैं। फिर वो उन्हें अपनी सबसे 'अच्छी' कक्षाओं का दौरा कराते हैं जहां पूर्व-तैयारी के कारण शिक्षक और बच्चे अच्छा शो पेश करते हैं। आगंतुक के खुद पढ़ाने का काम भी एकदम कृत्रिम होता है। छात्रों के ऊपर उसका कोई रोब नहीं चलता और न ही वो छात्रों को कोई पुरुस्कार या सज़ा दे सकता है। किसी आगंतुक को कक्षा में देखकर बच्चे उतने ही खुश होते हैं जितना घर में, भोजन पर आए किसी मेहमान को देखकर। कुछ समय के लिए बच्चे खुद को सुरक्षित महसूस करते हैं। अतिथि उन्हें किसी मुश्किल में तो नहीं डाल सकता है। और अतिथियों के रहने तक उनकी बाकी समस्याएं भी अपना सिर नहीं उठाएंगी। इसलिए जब सुधारक स्कूल में जाकर बच्चों को बौद्धिक खेल खेलने के लिए आमंत्रित करते हैं तो बच्चे मुक्त होकर खेलते हैं। और शायद इसीलिए वो उन्हें अच्छी तरह से खेलते हैं। बाद में सुधारक इस पर शेखी बघारते हैं, 'देखो? इसे कोई भी कर सकता है!' वो भूल जाते हैं कि यह सफलता उन्हें उनके विचारों के कारण नहीं बल्कि, उनके वहां होने के कारण मिली है। उनके आगमन मात्र से ही कक्षा के रूप में एक अभूतपूर्व बदल आई। इससे साफ़ जाहिर है कि हमें कक्षा में क्या करना चाहिए। शिक्षा को बेहतर बनाने के लिए हमें न तो कक्षा में नए पाठ्यक्रम की ज़रूरत है और न ही बहुत मंहगे उपकरणों की।

1966

## स्कूल बच्चों के लिए खराब जगह है

सभी स्कूल एक जैसे नहीं होते। कुछ स्कूल, जिन्हें मैं जानता हूं, बहुत अच्छे हैं। जो स्कूल बहुत अच्छे नहीं हैं, उनमें से कई, दूसरों से अच्छे हैं। और बहुत से स्कूल अच्छे हो रहे हैं। मुझे भिन्न स्तरों पर कई स्कूलों में लोगों, शिक्षकों, योजनाकारों, अधिकारियों से बातचीत करने का मौका मिला है। उनमें से बहुत से लोग अपने स्कूलों की दशा को लेकर दुखी और चिंतित हैं। अगर उन्हें सही सुधारों की दिशा मालूम हो तो वे स्कूलों को, बच्चों के लिए बेहतर बनाने को उत्सुक हैं।

हमारे ज़्यादातर स्कूलों की स्थिति हमेशा से ही दयनीय रही है। स्कूल, बच्चों और अन्य लोगों के लिए, रहने और सीखने की हमेशा से एक खराब जगह रही है। स्कूलों में अभी भी बहुत निष्ठुरता है। जौनाथन कोज़ोल ने बॉस्टन के स्कूलों की जो कुछ बताया, वो किसी भी बड़े शहर के स्कूलों के लिए सच हो सकता है। शहरों में पलने वाले और पढ़ाने वाले, अन्य लोगों से भी मुझे इसी प्रकार की कहानियां सुनने को मिली हैं। एक कालेज में मनोविज्ञान के प्रोफेसर ने मुझे यह कहानी सुनाई। उनके बहुत से छात्र समीप के एक शहर में प्रैक्टिस-टीचिंग के लिए जाते थे। कुछ समय पहले जब एक शिक्षक-छात्रा वहां के स्कूल में पढ़ाने गई तो उस स्कूल के प्रधानअध्यापक ने उसके हाथ में एक छड़ी थमाते हुए कहा, 'मुझे इस बात की कोई परवाह नहीं कि तुम बच्चों को कुछ पढ़ाती हो या नहीं, परंतु उन्हें

चुपचाप रखना।' इसको दोहराना ज़रूरत नहीं है कि उस स्कूल के बच्चे गरीब घरों के थे क्योंकि रईस पालक इस बात को नहीं झेल पाते। यह घटना कोई अपवाद नहीं बल्कि एक सामान्य बात है। प्रोफेसर के बहुत से छात्र जिनमें, बच्चों को लेकर आदर्श और उम्मीदें थीं, प्रैक्टिस-टीचिंग के इस दुखद अनुभव के बाद रोते हुए लौटे और कहने लगे, 'हम बच्चों को नहीं पीटना चाहते।' परंतु बहुत से स्कूलों में इस प्रकार का खेल अभी भी ज़ारी है।

अमरीका और इंग्लैंड में, जानवरों पर क्रूरता रोकने वाली संस्थाओं की सदस्यता और उनके पास धन, बच्चों पर क्रूरता रोकने वाली संस्थाओं से कहीं अधिक है। यह बात सोचने योग्य है।

कुछ दक्षिणपंथियों को छोड़कर, शिक्षा में काम करने वाले बहुत कम लोग ही, बच्चों पर क्रूरता को सही मानेंगे। इसलिए इस विषय पर प्रहार करना उचित नहीं होगा। बच्चे अक्सर क्रूरता का खुलकर, सीधा विरोध भी करते हैं। अगर कोई आपको छड़ी से मार रहा हो, या फिर पूरी कक्षा के सामने आपको ज़लील कर रहा हो, तो आपके साथ क्या हो रहा है और उसे कौन कर रहा है यह आपको अच्छी तरह पता होता है। आप दुश्मन को अच्छी तरह से पहचानते हैं। सबसे अधिक हानि उन स्कूलों में होती हैं जहां बच्चे प्रतिरोध नहीं करते, या नहीं कर सकते हैं। यहां पर बच्चों को यह पता नहीं होता है कि उनके साथ क्या हो रहा है और उसे कौन कर रहा है। बच्चे यही सोचते हैं कि यह दुर्व्यवहार अच्छे, दयालु लोग, खुद बच्चों के भले के लिए कर रहे हैं।

स्कूल की इमारत में पहला कदम रखते समय, हरेक बच्चा अधिक चैतन्य, ज़्यादा इच्छुक, कम डरपोक, चीज़ों को जानने-समझने में अधिक चतुर, आत्मविश्वासी, धैर्यवान और स्वतंत्र होता है। उसकी बकाया स्कूली ज़िंदगी में, उसमें कभी भी उतने अधिक गुण नहीं होंगे। अपने बाकी जीवनकाल में भी शायद, वो कभी भी इतने अधिक गुणों से सम्पंन नहीं होगा। बच्चे, बिना औपचारिक स्कूली निर्देशों के, सिर्फ आसपास की दुनिया में, लोगों के सम्पर्क से, कुछ बेहद कठिन, जटिल और अमूर्त बातें सीख लेते हैं। ये चीज़ें न तो उन्हें स्कूल में सिखाई जाएंगी और न ही उसके शिक्षक इनके बारे में कुछ जानते होंगे। स्कूल जाने से पहले ही बच्चे भाषा की अत्यन्त रहस्यमयी गुत्थी को सुलझा चुके होते हैं। गोदी के नन्हें शिशु तो भाषा के अस्तित्व के बारे में नहीं जानते, परंतु स्कूल जाने से पहले ही बालक, भाषा की कार्य-पद्धति समझकर उसे इस्तेमाल करना सीख जाता है। मैंने इसका सविस्तार वर्णन अपनी पुस्तक ***'हाऊ चिल्ड्रन लर्न'*** में किया है। बच्चा अपनी खोजों और प्रयोगों से भाषा की व्याकरण का एक मॉडल रचता है, और फिर देखता है कि वो काम करता है या नहीं। जब तक भाषा ठीक से काम नहीं करने लगती वो धीरे-धीरे उसे बदलता है और सुधारता है। इस सबको करने के दौरान बच्चा और भी बहुत सी बातें सीखता है। वो ऐसी कई 'अवधारणाएं' खुद ही सीखता है। इस प्रकार बच्चा कई जटिल 'अवधारणाएं' स्कूल के बिना सिखाए ही सीख जाता है।

स्कूल में पहली बार आ रहा बच्चा जिज्ञासु, सहनशील, ऊर्जा से भरा और एक कुशल सीखने वाला होता है। हम उसे एक डेस्क पर बैठा देते हैं। फिर हम उसे क्या सिखाते हैं? बहुत सारी बातें। पहली - सीखना और ज़िंदगी जीना, दोनों बिल्कुल अलग-अलग बाते हैं। 'तुम स्कूल सीखने के लिए आते हो' हम कहते हैं - जैसे बच्चे ने पहले कुछ सीखा ही न हो। जैसे, स्कूल सीखने के लिए हो और बाहर ज़िंदगी जीने के लिए, और इन दोनों के बीच कोई संबंध न हो। दूसरी - हम बच्चों के खुद सीखने पर बिल्कुल यकीन नहीं करते। बच्चे ने अभी तक जो भी सीखा है उसकी तुलना में हमारे द्वारा सिखाई पढ़ाई, एकदम सरल है। फिर भी हम उससे कहते हैं कि 'अगर हम तुम्हें पढ़ना नहीं सिखाएंगे, तब तुम उसे सीखोगे ही नहीं। और अगर तुम हमारे बताए अनुसार नहीं करोगे, तब तो तुम कभी भी नहीं सीखोगे।' इससे बच्चा सीखने की प्रक्रिया को एकदम निष्क्रिय समझने लगता है - एक ऐसी चीज़ जिसे आप खुद अपने लिए नहीं करते बल्कि दूसरे लोग आपके लिए करते हैं।

तमाम अन्य बातों से बच्चा, एक चीज़ और सीखता है। कि वो खुद बेकार, अविश्वस्नीय, आज्ञाकारी, कोरा पन्ना है जिसपर दूसरे लोग जो चाहें लिख सकते हैं। वैसे हम स्कूलों में, बच्चों के प्रति सम्मान और उनके बीच अंतरों की इज़्जत करने की दुहाई देते हैं। परंतु हमारी करनी और कथनी में बहुत फर्क होता है। असल में हम बच्चों से कहते हैं कि 'तुम्हारे अनुभव, तुम्हारे चिंताएं, तुम्हारी जिज्ञासाएं, तुम्हारी ज़रूरतें, तुम क्या जानते हो, तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे अचरज, तुम्हारी उम्मीदें, तुम्हारे भय, तुम्हें क्या अच्छा-बुरा लगता है, तुम कौन सी चीज़ों में अच्छे हो और किन में खराब - यह सब बेकार की बातें हैं, इनका कोई महत्व नहीं है। यहां केवल एक बात मायने रखती

है, महत्वपूर्ण है – हम क्या जानते हैं, हम किस चीज़ को महत्वपूर्ण समझते हैं। हम बताएंगे कि तुम्हें क्या करना है, क्या सोचना है आदि।' इन सबसे तंग आकर बच्चा, जल्दी ही सवाल पूछना बंद कर देता है। शिक्षक बच्चे की जिज्ञासा को पूरा करने के लिए नहीं है, यह बच्चा समझ जाता है। शुरू में बच्चा अपनी जिज्ञासा को छिपाता है और बाद में उससे लज्जित होता है। बच्चे को स्कूल में अपने आप को पहचानने, खोजना का, खुद को विकसित करने का कोई मौका ही नहीं मिलता है। धीरे-धीरे वो अपने बारे में वयस्कों द्वारा किए मूल्यांकन को ही सही मान बैठता है। एक बार मैंने एक सम्पंन निजी स्कूल में, आठवीं के एक श्रेष्ठ बच्चे से अपने बारे में बताने को कहा। 'मैं कुछ भी नहीं हूं। अगर कुछ हूं भी तो बुरा हूं। मेरी बहुत रुचियां और चिंताएं नहीं हैं। जो हैं भी, वो बहुत तुच्छ किस्म की हैं। जो कुछ मुझे प्रिय है वो मेरे लिए अच्छा नहीं है। मेरा हरेक निर्णय बेवकूफी का ही होता है। इस दुनिया में ज़िंदा रहने के लिए मेरे पास केवल एक ही विकल्प बचा है – कि मैं किसी सत्ता के दामन को पकड़ लूं और उसके बताए काम करता रहूं।'

बच्चा और भी कई बातें सीखता है। वो सीखता है कि गलती, अनिश्चितता, उलझन भी एक जुर्म है। स्कूल केवल सही उत्तर चाहता है। यह बात वो जल्द ही सीख लेता है। इसका वर्णन मैंने अपनी पुस्तक ***'हाऊ चिल्ड्रन फेल'*** में किया है। बच्चे अपने शिक्षक से सही उत्तर उगलवाने के असंख्यों तरीके अपनाते हैं। वे शिक्षक को यह मानने के लिए मज़बूर करते हैं कि उन्हें आता है, जबकि असल में वो उसे नहीं जानते। बच्चे चकमा देना, झूठ बोलना, बहाने बनाना और नकल करना सीख जाते हैं। बच्चे आलसी बनना सीख जाते हैं। स्कूल आने से पहले बच्चे, बिना किसी इनाम की लालसा के, अपने आप, घंटों काम करते हैं और उसके दौरान दुनिया को समझते हैं और अपनी क्षमताएं बढ़ाते हैं। स्कूलों में बच्चों की हालत किसी ठेके के मज़दूर जैसी होती है। वो मालिक की निगाह के सामने बेगार काटते हैं और निगाह हटते ही कामचोरी करते हैं। वे सीखते हैं कि असली ज़िंदगी में बिना रिश्वत और डांट-फटकार के कोई काम नहीं करता। कोई भी अच्छा काम आप स्कूल में नहीं कर सकते। इस सबसे बच्चे ऊब जाते हैं। वे अपने मस्तिष्क के केवल थोड़ा सा भाग ही उपयोग करते हैं और अपने आसपास की कठोर वास्तविकता से पलायन करने के लिए झूठे सपने संजोते हैं। पर यह सपने स्कूल आने के पहले जैसे नहीं होते। उन सपनों में बच्चे, खुद एक सक्रिय भूमिका निभाते थे।

स्कूलों में आजकल प्रजातांत्रिक मूल्य पढ़ाने की बात भी बढ़-चढ़ कर सुनने को मिलती है। परंतु असली ज़िंदगी में बच्चे, बंधुआ मज़दूर की दासता ही झेलते हैं। बॉस की लल्लो-चप्पो कैसे करें? समस्याओं से कैसे दूर रहें और उनमें दूसरों को कैसे फंसाएं? दूसरों की शिकायत करें जैसे 'मास्टरसाब, देखिए बिली ने ...' अन्य बच्चों के साथ नीच प्रतिस्पर्धा में जूझने से वे सीखते हैं कि हरेक व्यक्ति, अन्य लोगों का प्राकृतिक दुश्मन होता है। युद्धनीतिज्ञों के अनुसार जीवन, शून्य-योग का खेल है। इसमें अगर कोई एक जीतेगा, तो दूसरा हारेगा ही। हरेक विजेता के लिए कोई हारने वाला होना ज़रूर होगा। (हमारे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के शिक्षाविद् तो इससे कहीं आगे निकल गए हैं। उन्होंनें शिक्षा को एक ऐसे खेल में बदल दिया है जिसमें एक के जीतने से, कम-से-कम बीस हारते हैं।) वैसा बच्चा, अन्य बालकों के साथ किसी छोटी-मोटी 'कमेटी' का सदस्य भी बन सकता है। परंतु जब कोई ज़रूरी काम आएगा- जो स्कूल के लिए महत्वपूर्ण होगा – तब मदद या सहायता लेने को 'नकल' करार दिया जाएगा।

इससे बच्चा अक्रामक और उदासीन बन जाता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे किटी जेनोवीस की हत्या के समय लोगों को हुआ। 38 लोग किटी की हत्या को आधे घंटे तक देखते रहे और किसी ने, न तो कोई मदद की, और न ही सहायता बुलाई। बच्चा जब स्कूल आता है तब वो अन्य लोगों, विशेषकर दूसरे बच्चों के बारे में जिज्ञासु होता है। कक्षा में सबसे रोचक चीज़ – और शायद एकमात्र रोचक चीज़ – बाकी बच्चे ही होते हैं। परंतु उसे ऐसा अभिनय करना पड़ता है मानों, पास बैठे बाकी बच्चे, असलियत में हों ही नहीं। वो उनके साथ मिलजुल नहीं सकता, बातचीत नहीं कर सकता, मुस्कुरा नहीं सकता और अक्सर उनकी ओर देख भी नहीं सकता है। बहुत से स्कूलों में, पीरीयड खत्म होने के बाद, बाहर के गलियारे में भी वो दूसरे बच्चों से बात नहीं कर सकता है। कई धनी, रिहायशी इलाकों में, खाने की छुट्टी के दौरान भी बच्चे आपस में बातचीत नहीं कर सकते। यह ट्रेनिंग एक ऐसा समाज रचने के लिए है जिसमें आप दूसरों को फंसाने के लिए ही उनकी ओर ध्यान देते हैं। नहीं तो आप

लोगों की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं।

बच्चा एक ऐसी ज़िंदगी जीने का आदी बन जाता है जिसमें उसे अपने आसपास की किसी चीज़ को ध्यान से देखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। आप यह भी कह सकते हैं कि स्कूल में बच्चे, अपना 'स्विच ऑफ' कर लेते हैं। इससे बहुत से छात्रों की, बचपन में मिली चेतना और खुशी अब छिन जाती है और फिर वे उसे ड्रग्स में तलाशते हैं। उबाऊ होने के साथ-साथ ज़्यादातर स्कूल - चाहें वे स्टाइलिश और मंहगे क्यों न हों, भौंडे, उदासीन और अमानवीय होते हैं। मैं अभी तक सैकड़ों, नए-पुराने स्कूलों की इमारतों में जा चुका हूं परंतु उनमें से अच्छे स्कूलों को मैं अपनी उंगलियों पर गिन सकता हूं। इन स्कूलों में गलियारों और बरामदों को, बच्चों और अन्य लोगों की कलाकृतियों, चित्रों और मूर्तियों से सजाकर मानवीय और जीवंत बनाया गया था। अक्सर दीवारों पर लगाए गए शासकीय पोस्टरों पर बेहूदा बातें ही लिखी होती हैं जैसे 'दूसरे स्कूल को हराओ' या 'खून चूसने वालो, भागो!' आदि।

शांत बैठो! चुपचाप बैठो! स्कूल में अक्सर यही 'शब्द' सुनने को मिलते हैं। अगर दूर के ब्रहमांड का कोई जासूस, पृथ्वी को हथियाने की कोशिश करेगा तो यहां कब्जा करने के लिए यही 'शब्द' उसके लिए सबसे उपयुक्त होंगे - वो पृथ्वी के बच्चों को, अधिक-से-अधिक बुद्धू बनाने का प्रयास करेगा। घंटों तक बिना हिले-डुले बैठने और मुंह पर उंगली रखने से बच्चे बुद्धू ही बनेंगे। जासूस की रणनीति एकदम कारगर सिद्ध होगी। बच्चे एक समग्र ज़िंदगी जीते हैं। उनका शरीर, मांसपेशियां, आवाज़ और दिमाग सभी एक-साथ काम करते हैं। अगर आप उनके किसी भी एक भाग पर अंकुश लगाएंगे तो वो पूरी तरह काम करना बंद कर देंगे।

कुछ समय पहले मैं कुछ नौजवान लोगों द्वारा शुरू किए एक सुंदर, प्रगतिशील स्कूल में गया। इनमें से कुछ नौजवान अभी कालेज में पढ़ रहे हैं और कुछ अभी पढ़कर बाहर निकले हैं। स्कूल का नाम है 'द चिल्ड्रन्स कम्यूनिटी' और यह एॅन हार्बर, मिशिगिन में स्थित है। (जहां यह स्कूल है उस शहर में एक बहुत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी है। परंतु उसके बावजूद, धन के अभाव में इस स्कूल को, कुछ समय के लिए बंद करना पड़ा।) उस साल, स्कूल के पास केवल दो कमरे थे। इनमें से एक काफी छोटा था और दूसरा किसी सामन्य कक्षा के नाप का होगा। बच्चों ने मांग की कि छोटे कमरे को, शांत गतिविधियों जैसे - पढ़ना, कहानी सुनाना, सोचना, पेन्टिंग, अंकों के साथ काम, वार्तालाप, कूज़ीनेयर छड़ों, पहेलियों आदि के लिए रखा जाए। बड़े कमरे को खेलने और शोरगुल वाले कामों के लिए रखा जाए। इस कमरे में शोरगुल मचना स्वाभाविक था। आधे से ज़्यादा बच्चे ब्लैक्स(नीग्रो) थे और अधिकतर बच्चे गरीब थे - जिन्हें अब हम 'प्रतिकूल परिस्थितियों में जीना' कहते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि गरीब लोगों को ही धन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। यहां पर बच्चे अपना अधिकांश समय खेलने और शोर मचाने में गुज़ारते हैं। कोई प्रगतिशील स्कूल भी उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं देता। खेलते समय बच्चे, अपने साथियों और शिक्षकों से, उत्तेजित होकर ज़ोर-ज़ोर से, मगर धारा प्रवाह और प्रभावशाली तरीके से बातचीत करते हैं। दूसरी ओर अब भी कुछ लोग यह मानते हैं कि गरीब बालकों की, खासकर गरीब ब्लैक बच्चों की, कोई शब्दावली ही नहीं होती है और वे केवल तुतलाते हैं।

मैं पिछली गर्मियों में, सैन्टा फी, न्यू मेक्सिको गया। वहां मैंने गरीब, स्पैनिश बोलने वाले परिवारों के, आधा दर्जन छोटे लड़कों को, एक अद्‌भुत नौजवान के साथ फुटबाल खेलते हुए देखा। यह नौजवान, शहर के मनोरंजन विभाग से आया था। अपनी अभूतपूर्व कुशलता के कारण, वो इन बच्चों को, बिना नीचा दिखाए, उन्हें बिना चोट पहुंचाए या डराए, उनके साथ खेल रहा था। अपने व्यवहार से वो, बच्चों को गंभीर ज़रूर लगा, पर खतरनाक नहीं। उन लड़कों में सबसे बड़ा कोई आठ साल का होगा। सभी खेल को बड़ी ऊर्जा और कुशलता से खेल रहे थे। खेलते समय वे एक-दूसरे से लगातार, धारा प्रवाह बातचीत और मज़ाक कर रहे थे। एक बच्चे ने फुटबाल को सिर से मारा। इससे उसका सिर चकराने लगा। वो एक ओर बैठ गया और कहने लगा 'मुझे दो मिनट की छुट्‌टी दो।' इसके जवाब में दूसरी टीम के एक लड़के ने कहा 'चलो समय खत्म हुआ, एक! दो!' इस तरह की कई बातें हुयीं जिनसे एक बात साफ हुई। जो शिक्षक सूनी कक्षाओं के अभ्यस्त हैं वे इन बच्चों की बुद्धिमानी, प्रफुल्लता, मज़ाक की क्षमता का कोई अंदाज़ नहीं लगा पाएंगे। वे हमेशा इन बच्चों को बेवकूफ और पढ़ने के नाकाबिल ही

समझेंगे।

बच्चों की आवश्यकताओं में कुछ प्राथमिकताएं होती हैं – जो समय और परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। हो सकता है कि सबसे ज़रूरी लगने वाले काम को बच्चा, अभी नहीं कर पा रहा हो। वो किसी अन्य काम में लग गया हो जिसमें भी उसे उतना ही मज़ा और संतोष मिलता हो। पर जब कभी बच्चा मुश्किल में होता है तब ये प्राथमिकताएं काफी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। अपना सबसे प्रिय काम नहीं कर पाने के कारण, उससे कोई अन्य काम भी नहीं होता है। बच्चे में ब्रेक लग जाता है। वो रुक जाता है। जैसे अगर मेन-स्विच 'ऑफ' करो तो, बाकी स्विच अपने आप ही बंद हो जाते हैं। चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी और अन्य स्थानों पर मैंने जो कुछ भी देखा है उससे मुझे लगता है कि बच्चों को, उग्र भौतिक और शाब्दिक क्रियाओं की विशेष आवश्यकता होती है। उन्हें गहरे व्यक्तिगत संबंधों की भी सख्त ज़रूरत होती है। इसका यह मतलब नहीं, कि बच्चे हमेशा लड़ें ही। वैसे जब बच्चों को कक्षा में बहुत दबा कर रखा जाता है तब वे निराश होकर, गुस्से में आ जाते हैं और उन्हें रोकना कठिन हो जाता है। तभी वे, एक-दूसरे से लड़ते हैं। क्या इसका कोई निदान है? उसके लिए मैं चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी की क्रियाओं का वर्णन करूंगा।

चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी में एक खेल का कमरा था। वहां कई खिलौने थे। पर बच्चों को तीन-पहियों वाली कुछ पुरानी साइकिलें ही सबसे पसंद थीं। मैं जब वहां पहुंचा तब बच्चे एक फिसलने वाले खेल में मशगूल थे। एक छोटा लड़का साइकिल पर, एक पैर पीछे रखकर, दूसरे पैर से उसे तेज़ी से धक्का देता था। इससे साइकिल धड़ाम से गिरती और फर्श पर, काले टायर का स्पष्ट निशान बन जाता था। सबसे तेज़ फिसलकर, फर्श पर सबसे लंबा निशान बनाना ही खेल का उद्देश्य था। (इन निशानों को सप्ताह खत्म होने से पहले अच्छी तरह साफ करना होता था क्योंकि तब अन्य लोग उस कमरे का इस्तेमाल करते थे।) वहां एक पांच वर्ष की लड़की, करीब एक घंटे तक लकड़ी के टुकड़े को आरी से काटती रही। काफी मेहनत करने के बाद वो, कुछ इंच गहरा, एक लहरदार नमूना काटने में सफल हुई। वो लकड़ी में खांचे के अलावा और कोई खास चीज़ नहीं बना रही थी। वो सिर्फ लकड़ी को काटकर उसपर अपना एक निशान छोड़ रही थी। बाकी बच्चे 'ट्राई-वॉल' नाम के मोटे गत्ते से बने, एक घर में खेल रहे थे। कभी घर में कुछ बच्चे अंदर चले जाते और फिर अन्य बच्चों को, घर में घुसने से रोकते। इसमें बच्चों को बड़ा मज़ा आता। बाद में कुछ लड़के एक अन्य, निचली दीवारों वाले 'ट्राई-वॉल' – घर में घुसे। क्योंकि इस घर के कोने कब्जों से जुड़े थे इसलिए वे, इस घर के वर्गाकार आकार को बदलकर बर्फीनुमा बना पाए। कुछ देर बाद उन्होंने उसका राक्षस बनाया यानी, एक नुकीली बर्फी बनाई और उसे लेकर फर्श पर चलने लगे। राक्षस दूसरे बच्चों का पीछा करने लगा। बच्चे डर के मार उससे दूर भागने लगे, या फिर उसे धक्के से दूर हटाने लगे। इसमें सबको बड़ा मज़ा आया। कुछ देर बाद सभी बच्चे और शिक्षक एक दूसरे खेल में लग गए। इसमें रूमाल से किसी दूसरे को मारकर – इससे पहले कि दूसरा पलट कर मारे, जल्दी से छिपाना होता था।

अन्य बच्चों की तुलना में गरीब बच्चों को इस प्रकार के खेलों की ज़्यादा ज़रूरत होती है जिनमें शोर, उत्तेजना, व्यक्तिगत मेलजोल आदि हो। वैसे सभी बच्चों को इनकी आवश्यकता होती है और उन्हें इनमें मज़ा भी आता है। वॉल्डन कम्यूनिटी स्कूल, बर्कली, कैलिफोर्निया में मुझे, बच्चों के सबसे मनमोहक खेल देखने का मौका मिला। यह एक निजी प्राथमिक शाला है। माता-पिता के स्वैच्छिक श्रमदान से, यहां इमारत की कीमत में, एक-तिहाई की कमी आई। यहां पर ज़्यादातर बच्चे गोरे, मध्यम वर्गीय परिवारों से आते हैं। चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी के बच्चों की तुलना में यह बच्चे धनी परिवारों के हैं। स्कूल की दिनचर्या में कई छुट्टी के पीरियड होते हैं। अवकाश के समय बहुत से बच्चे दौड़कर एक खाली, बड़े से हाल में जाते हैं। हाल को नाना प्रकार की गतिविधियों के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। इसे नाचने, खेलने, सिनेमा, स्कूल की मीटिंग आदि कामों के लिए उपयोग किया जाता है। अक्सर बच्चे 'रॉक' संगीत के रिकार्ड को, तेज़ आवाज़ में बजाते हैं और फिर कूदते और दौड़ते हैं।

एक दिन वो अल्मारी में से कुछ हवाई-जहाज़ के पुराने पैराशूट निकाल लाए। पैराशूट, स्कूलों के लिए बेहद सस्ते और उपयोगी संसाधन हैं। जल्द ही पैराशूटों से एक नया खेल उपजा। इसमें एक बच्चे के ऊपर पैराशूट फेंका जाता। फिर बच्चे को उसमें लपेटकर, फर्श पर खींचकर, गद्दों के एक ढेर के पास लाया जाता। इस दौरान बच्चे

पैराशूट को घुमाते रहते। बच्चे, पैराशूट के साथ अलग-अलग तरीकों से रस्सी-खींच का खेल भी खेलते रहते। फिर एक दिन अचानक, इससे ही एक नया खेल उपजा। शुरू में कुछ बच्चे, एक अल्मारी के ऊपर से, फर्श पर पड़े गद्दों पर कूदने लगे। अल्मारी आठ-नौ फीट ऊंची थी और उसे सरकाकर, इधर-उधर ले जाया जा सकता था। कई बच्चे इतनी ऊंचाई से कूदने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थें। फिर इसमें और बच्चे जुड़ गए। तभी कोई जाकर एक पैराशूट ले आया। कुछ समय बाद यह नज़ारा देखने को मिला। ज़्यादातर बच्चे कमरे की दीवार से सटकर खड़े हो गए और उन्होंने अपने हाथों से पैराशूट को तान लिया। फिर बच्चे मिलकर 'एक, दो, तीन' चिल्लाते। और 'तीन' की आवाज़ पर सभी बच्चे जल्दी से पैराशूट को हवा में उठाते। इससे पैराशूट में हवा भर जाती और वो बच्चों के सिरों के ऊपर उठ जाता। जब पैराशूट हवा में ठहर होता तब एक बच्चा अल्मारी के ऊपर से पैराशूट के बीच में छलांग लगाता और फिर नीचे पड़ी गद्दों के ढेर पर जाकर गिरता। अगर कूदने वाला बच्चा, गद्दों का निशाना चूक भी जाता, तो भी वो फॉयर-ब्रिगेड के तने पैराशूट के जाल पर गिरता और उसे चोट नहीं लगती। पैराशूट पकड़े बच्चे लगातार अपना स्थान बदलते रहते। इससे हरेक को कूदने का मौका मिलता। कुछ बच्चे अपना चांस खो देते पर इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। शिक्षकों के अनुसार बच्चों ने इस खेल को पहले कभी भी नहीं खेला था। उन बच्चों ने इस प्रकार के न जाने कितने खेलों का आविष्कार किया?

सभी छोटी उम्र के बच्चों में, इस बात की कि ललक होती है कोई उन्हें छुए, पकड़े, झकझोरे, उठाए, उछाले और गोल-गोल घुमाए। चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी में मैं जब पहली बार गया उसकी याद मुझे आज भी तरोताज़ा है। बिल अइयर उसके संस्थापक थे। वो मुझे वहां, मिशिगन विश्वविद्यालय से लेकर गए थे। मैं विश्वविद्यालय में भाषण देने गया था। हम चिल्ड्रंन्स कम्यूनिटी के बड़े हाल में गए। बिल पुराने कपड़ों में थे और मैं एक गहरे नीले रंग का सूट पहने था। बच्चों ने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया पर उन्होंने बिल को चारों ओर से घेर लिया। हरेक बच्चा बिल से कुछ-न-कुछ पूछने को आतुर था। सभी बच्चे चिल्लाने लगे, 'बिल, बिल!' एक छोटा बच्चा चिल्लाया, 'बिल, मुझे उठाओ।' बिल ने उसे उठा लिया। फिर और बच्चे भी चिल्लाने लगे, 'मुझे भी उठाओ, मुझे भी उठाओ।' बिल ने कहा, 'मैं दो को एक-साथ नहीं उठा सकता।' तभी बिना किसी प्रयोजन के मैंने कहा, 'मैं दो बच्चों को, एक-साथ उठा सकता हूं।' पहली बार बच्चों ने मेरी तरफ मुंह किया और मुझे बड़े ध्यान से देखा। 'असम्भव!' सभी ने कहा। 'हां, मैं कर सकता हूं,' मैंने कहा। 'मैं तुम्हें दिखा सकता हूं।' फिर सावधानी से दो बच्चे आगे आए। मैं उकड़ू बैठा और दोनों बच्चों को अपने एक-एक बाजू से पकड़कर खड़ा हुआ। इससे बच्चों में उत्तेजना बढ़ी। अब तो सब बच्चे इकट्ठे होकर चिल्लाने लगे। मुझे तुरंत प्रसिद्धि मिल गई। मैंने पाया कि दो बच्चों को बाजुओं से पकड़ने के बाद भी, मेरे दोनों हाथ मुक्त थे। मैंने कहा, 'देखो, अगर तुम चाहो तो मैं तीन बच्चों को एक-साथ उठा सकता हूं।' 'नहीं, यह सम्भव ही नहीं है,' बच्चे ज़ोर से चिल्लाए। जब मैं अपनी बात पर अड़ा रहा तो एक तीसरा बच्चा आगे आया। मैं नीचे झुका और तीसरे बच्चे को दोनों हाथों से पकड़कर दुबारा खड़ा हो गया। इससे तो एकदम सनसनी फैल गई! उसके बाद लगातार कोई-न-कोई बच्चा मेरे ऊपर या तो झूलता, या फिर मेरे कंधों पर चढ़ने की कोशिश करता। अंत में मुझे इस खेल से थकावट होने लगी।

एक दफा मैं गरीब बच्चों के ग्रीष्म-शिविर में गया। वहां पास के एक बड़े शहर से गोरे और काले बच्चे आए थे। इन बच्चों पर 'मानसिक रूप से विचलित' होने का लेबिल लगा था। मैं एक कमरे में गया जहां तीन लड़के और एक स्टाफ था। स्टाफ, संवेदनशील और अनुभवी था। लड़के एक टेप-रिकार्डर में कुछ बोल रहे थे। लड़के कुछ शर्मा रहे थे पर स्टाफ उन्हें बड़ी कुशलता से प्रोत्साहित कर रहा था। मैं उनके पास जाकर फर्श पर चुपचाप बैठ गया। किसी ने भी मेरी तरफ, देखा तक नहीं। परन्तु कुछ मिनट बाद, उनमें से एक लड़का थोड़ा मुड़ा और वो मेरे घुटने पर अपनी कोहनी टिका दी। थोड़ी देर बाद दूसरा लड़का भी मुझसे सटकर खड़ा हो गया। उनमें से कोई भी मुझसे न तो बोला और न ही उन्होंने मेरी ओर देखा। इस भौतिक सम्पर्क के बाद जब काफी समय बीत गया तब उन लोगों ने मेरी तरफ देखा और मुझसे मेरे बारे में पूछा। इस अनुभव में पहले शारीरिक सम्पर्क हुआ और बाद में परिचय। अगर मैं किसी शिक्षक की तरह, उनको छूते ही, अपने आपको अलग कर लेता तो शायद उनके साथ आगे का संवाद वहीं खत्म हो जाता।

परंतु अधिकांश स्कूलों का वास्तविक दुनिया से और असली चीज़ों और लोगों से कोई सम्पर्क होता ही नहीं है।

कक्षा एक ऐसी उबाऊ, भद्दी और अमानवीय जगह है जहां कभी कोई सच्ची बात बोलता ही नहीं है। वहां पर सभी लोग कोई नकली अभिनय कर रहे होते हैं। वहां शिक्षक और बच्चे आपस में ईमानदारी से संवाद करने को स्वतंत्र नहीं होते हैं। वहां हर कोई शक और उत्सुकता के साए में जीता है। वहां बच्चे एकदम सुन्न और जड़ हो जाते हैं। वे अपनी ऊर्जा को, जीवन के उन क्षणों के लिए बचा कर रखते हैं जिन्हें वयस्क बिल्कुल तुच्छ समझते हैं। जो बच्चे इस व्यवस्था से लड़ते हैं उसे पछाड़ते हैं, जो उससे नफरत करते हैं वो भी अंत में इस व्यवस्था का एक अंग होने के नाते अपने आप से घृणा करने लगते हैं। बिरले ही ऐसे बच्चे होते हैं जो स्कूल पूरा करने के बावजूद अपनी जिज्ञासा, स्वतंत्रता, स्वाभिमान और क्षमताओं को बचाकर रख पाते हैं।

शिकायतों का सिलसिला यहीं खत्म होता है। शिकायतें और भी की जा सकती हैं – और अन्य बहुत से लोगों ने की भी हैं – पर अभी के लिए शायद इतना ही काफी है।

पर इनके निवारण के लिए हमें क्या कर सकते हैं? बहुत कुछ। कुछ चीज़ें तो बहुत सरल हैं और हम उन्हें तुरंत कर सकते हैं। कुछ कठिन हैं और उनमें कुछ समय लग सकता है। पहले कठिन बातों को ही लें। हम सबसे पहले, स्कूल में हाज़िरी की अनिवार्यता को खत्म करें। कुछ बदलाव करें जिससे बच्चों को साल में कम–से–कम पचास–साठ दिन की आधिकारिक छुट्टी मिल सके। स्कूलों में हाज़िरी अनिवार्य हो इस नियम ने एक उपयोगी और मानवीय रोल निभाया है। इससे बच्चों का स्कूल जाने का अधिकार सुरक्षति हुआ है। नहीं तो बहुत से लोग अभी भी, बच्चों के श्रम का खेतों, दुकानों, खदानों और कारखानों में शोषण करते। परंतु आज के नियम स्कूलों, शिक्षकों और बच्चों – किसी के हित में नहीं हैं। जो बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहते उन्हें स्कूल में रखने से स्कूलों का समय नष्ट होता है और उन्हें तमाम मुश्किलें झेलनी पड़ती हैं। इसमें वो कीमत शामिल नहीं है जो नुकसान यह कैदी, मौका पाते ही करते हैं। हरेक शिक्षक यह बात जानता है कि जो बच्चा स्कूल नहीं आना चाहता वो खुद तो वहां कुछ सीखता नहीं है, परन्तु दूसरों के लिए भी सीखना दूभर कर देता है। जहां तक बच्चों के शोषण की बात है – आज स्कूल, बच्चों के शोषण की एकमात्र प्रमुख संस्था है। कालेज की होड़ में व्यस्त बच्चे, हफ्ते में लगभग सत्तर घंटे काम करते हैं। यह काम ज़्यादातर कागज़ी होता है। कालेज नहीं जाने वाले बच्चों के लिए स्कूल, पूर्णतः समय की बरबादी होता है। उसके कारण वो न तो कुछ कमा पाते हैं, न ही कोई उपयोगी काम कर पाते हैं और न ही वाकई में कुछ सीख पाते हैं।

आपत्तियां: 'अगर बच्चे स्कूल नहीं जाएंगे तो वे सड़कों पर आवारा घूमेंगे।' नहीं, ऐसा नहीं होगा। पहली बात, अगर स्कूलों की हालत अब जैसी ही रही तो भी बच्चे अपना कुछ समय वहीं बिताएंगे, क्योंकि वहां बच्चों को, अपने मित्रों से मिलने का बेहतर मौका मिलेगा। स्कूल, बच्चों के मिलने–जुलने की एक प्राकृतिक जगह है। दूसरी बात, स्कूल बदलेंगे, वो धीरे–धीरे बेहतर बनेंगे। हम स्कूलों को रोचक बनाएंगे जिससे हमारे बच्चों का वहां जाने का मन करे। तीसरी बात, थोड़ी मेहनत से हम स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों को, अन्य चीज़ें करने के लिए प्रेरित कर पाएंगे – ऐसी चीज़ें जिन्हें आमतौर पर बच्चे, गर्मियों की छुट्टियों में ही करते हैं।

अब कुछ सरल बातों को लें। हमें बच्चों को स्कूलों की चारदीवारी के बाहर निकालकर उन्हें, असली दुनिया को सीधे–सीधे समझने के अवसर देने चाहिए। कि बच्चों को ईंटों के बक्सों में बंद करके ही सबसे अच्छे तरीके से पढ़ाया जा सकता है – एक आधुनिक और बेहूदी धारणा है। ऐसे तरीके किसी भी समाज में काम नहीं करते। खुशी की बात यह है कि कुछ शिक्षाविद् अब इसके महत्व को समझने लगे हैं। फिलेडेल्फिया और पोर्टलैन्ड, ओरेगौन में अब इस प्रकार की योजनाएं बन रही हैं। यहां स्कूलों की अपनी इमारते होंगी ही नहीं। स्कूल, छात्रों को शहर में ले जाएंगे और वहां मौजूद, चीज़ों और लोगों को, सीखने के संसाधनों जैसे उपयोग करेंगे। बहुत से शहरों में निजी स्कूल पहले से ही यह काम कर रहे हैं। यह एक अच्छा तरीका है और हमें इसे बढ़ाना चाहिए।

एक ओर हम बच्चों को सीखने के लिए असली दुनिया में ले जा सकते हैं। दूसरी ओर हम असली दुनिया का कुछ हिस्सा, स्कूलों में ला सकते हैं। बच्चों को, माता–पिता और शिक्षकों के अलावा, वयस्कों से मिलने–जुलने का बहुत कम ही मौका मिलता है। इसमें आश्चर्य नहीं कि बच्चों को, वयस्कों के जीवन और उनके काम के बारे में बहुत कम ही पता होता है। हमें स्कूलों में ऐसे बहुत से लोग लाने चाहिए जो, पेशेवर शिक्षक न हों। ऐसे लोगों से बच्चों का सम्पर्क कराना चाहिए। मुझे एक ऐसे स्कूल के बारे में पता है जिसने चित्रकारों और हस्तकारों को, अपने

यहां कुछ समय रहने के लिए आमंत्रित किया है। वो मूर्तिकारों, मिट्टी के कारीगरों, संगीतज्ञों और अन्य सृजनशील लोगों से कहते हैं, 'कृपा कर हमारे स्कूल में, कुछ हफ्तों (या महीनों) के लिए पधारें। आप स्कूल को अपनी कार्यशाला जैसे उपयोग करें। जब आप अपना काम करें तो बच्चों को उसे देखने दें। अगर बच्चे कोई प्रश्न पूछें और आप चाहें तो, उनके उत्तर भी दें।' न्यूयार्क में एक संस्था है जिसका नाम है टीचर्स एंड राईटर्स कोलैबोरेटिव – जो रचनाकारों, लेखकों, पत्रकारों, कवियों, नाटककारों, कहानीकारों का एक समूह है। इसके सदस्य गरीब स्कूलों में नियमित रूप से जाते हैं और वहां बच्चों से अपने काम और उससे जुड़ी समस्याओं के बारे में चर्चा करते हैं। इसमें बच्चों को बहुत मज़ा आता है। दूसरे स्कूल में, पास के शहर से एक कामकाजी और सफल वकील हर महीने आता है और बहुत सी कक्षाओं से कानून के विषय पर चर्चा करता है। वकील अपने रोज़मर्रा के केसों में आई मुश्किलों के बारे में ज़्यादा बताता है, कानून के किताबी पक्ष के बारे में कम। बच्चों को इसमें क्यों आनंद आता है? शायद इसलिए क्योंकि यह घटनाएं असली, सच्ची और वयस्क जीवन की होती हैं। इन्हें कृत्रिम रूप से बच्चों के लिए सुधारा-संवारा नहीं गया होता है। इनमें कोई झूठ-फरेब नहीं होता क्योंकि यह घटनाएं वास्तविकता पर आधारित होती हैं।

अब इससे भी सरल काम देखें। बच्चों को आपस में मिलजुल कर काम करने दें, आपस में सीखने दें, एक-दूसरे की मदद करने दें, एक-दूसरे की गल्तियों से सीखने दें। हम कई शहरी, गरीब स्कूलों के अनुभवों से जानते हैं कि, बच्चे ही अन्य दूसरे बच्चों के, सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होते हैं। जब पांचवी या छठी का बच्चा, पहली के बच्चे को पढ़ना सिखाता है तो उसके खुद के पढ़ने की क्षमता भी अभूतपूर्व रूप से बेहतर होती है। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है। अब कई स्कूल, कुछ थोड़ा डर-डर कर, कुछ आत्मविश्वास के साथ, बच्चों के जोड़ी में सीखने की बात पर बल दे रहे हैं। इसके लिए बच्चों को उनका जोड़ीदार साथी चुनने की अनुमति देनी होगी। फिर बच्चे जोड़ियों में, साथ-साथ काम करेंगे, परीक्षाएं देंगे। वे अपने कार्य के अनुसार नम्बर पाएंगे – बिल्कुल उसी तरह जैसे कि वयस्कों की असली दुनिया में होता है। दो की जोड़ी में काम करना, एक कारगर तरीका है। मंद-बुद्धि के बच्चों के साथ काम कर रहे एक शिक्षक के अनुसार, जोड़ी में काम कर रहे बच्चों के परिणाम, उनके अकेले काम करने की तुलना में कहीं बेहतर रहे। ऐसे नतीजों की हमें उम्मीद भी थी। शायद इस तरीके से शिक्षक एक अन्य बहुत बड़ी समस्या का हल भी ढूंढ पाएंगे। बहुत से बच्चे अपने स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए जानबूझ कर फेल होने की रणनीति अपनाते हैं। इस तरीके के इस्तेमाल से शायद ये बच्चे अपनी इस रणनीति को छोड़कर, दुबारा से खतरे उठाने के लिए तैयार हो जाएं।

बच्चों को अपने काम का खुद मूल्यांकन करने दें। जो बच्चा बोलना सीख रहा हो, वो बार-बार टोकने से कभी नहीं सीखता। अगर उसे बहुत बार टोका जाए तो शायद वो बोलना ही बंद कर दे। वो बच्चा दिन में हज़ारों बार खुद की, और अन्य लोगों द्वारा उपयोग की गई भाषा की तुलना करता है। धीरे-धीरे वो अपनी भाषा को, दूसरों के समान बनाने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार बच्चे, बिना सिखाए अन्य कार्य भी सीखते हैं जैसे चलना, दौड़ना, चढ़ना, सीटी बजाना, साइकिल चलाना, स्केटिंग, खेल खेलना, रस्सी कूदना आदि। इन सभी क्रियाओं में बच्चे, अपने काम की तुलना किसी कुशल व्यक्ति से करते हैं और फिर धीरे-धीरे अपने कार्य में सुधार लाते हैं। परंतु हम स्कूलों में बच्चों को उनकी गल्तियों को पहचानने तक का मौका नहीं देते, उन्हें सुधारने की बात तो दूर रही। हमें लगता है कि हमारे बिना बताए बच्चों को उनकी गलती का अहसास होगा ही नहीं। और बिना दिखाए वो अपनी गलती को कभी सुधारेंगे नहीं। इस प्रकार जल्दी ही बच्चे विशेषज्ञों पर निर्भर हो जाते हैं। बच्चों को अपनी गल्तियां खुद सुधारने दें। वो अन्य बच्चों की सहायता से खुद शब्दों का सही अर्थ खोजे, समस्याओं के हल खोजें, और बातचीत का सही तरीका सीखें। विज्ञान और गणित जैसे कुछ विषयों में, जहां सही उत्तर अनिवार्य हों, वहां बच्चों को सही उत्तर उपलब्ध कराएं। बच्चों को अपने कार्य, परीक्षा-पत्र आदि को खुद जांचने दें। शिक्षक इन निरर्थक कार्यों में अपना समय क्यों बरबाद करें? जब बच्चा कहे कि उसे सही उत्तर खोजने का तरीका नहीं मालूम तब शिक्षक अवश्य उसकी मदद करे। शिक्षक परीक्षाफल जैसी बेहूदा बातों को भूल जाएं। कोई क्या जानता और समझता है इसे न तो हम जानते हैं, और न ही कभी जान सकते हैं। इसे हम प्रश्नों के द्वारा तो बिल्कुल नहीं जान सकते। किसी को क्या नहीं आता, हम केवल इतना ही

जान सकते हैं। सारे परीक्षापत्र और टेस्ट बच्चों को फंसाने के जाल हैं। इस जाल को जला दें और बच्चों को वो सीखने दें जो हरेक शिक्षित व्यक्ति को एक दिन सीखना चाहिए - अपनी समझ को खुद मापना और खुद मालूम करना कि उसे क्या आता है और क्या नहीं।

कुछ ऐसे सुधार हैं, जो कठिन हैं। आवश्यक, निश्चित पाठ्यक्रम का बहिष्कार करें। लोग केवल रोचक और उपयोगी चीज़ें ही याद रखते हैं - ऐसी बातें जिनसे उन्हें दुनिया को समझने में मदद मिलती है और जिनमें उन्हें मज़ा आता है। बाकी सब, अगर उन्होंने उसे कभी सीखा भी हो, तो भी उसे वे जल्दी ही भूल जाते हैं। यह दुनिया जटिल है और तेज़ी से बदल रही है। स्कूल में किसी निश्चित 'ज्ञान के भंडार' को सीखकर, सारी ज़िंदगी उपयोग कर पाना एक निरर्थक कल्पना है। सच्चाई तो यह है कि दुनिया के सबसे ज्वलंत प्रश्नों और समस्याओं का, स्कूल और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, समावेश होता ही नहीं है। आप किसी भी विश्वविद्यालय के परिचयपत्र को उठा कर पढ़ लें। किसी भी पाठ्यक्रम में आपको शांति, गरीबी, नस्लवाद, पर्यावरण प्रदूषण जैसे प्रश्न नहीं मिलेंगे।

सालों की गलत शिक्षा के बाद भी बच्चे जिस चीज़ को सबसे अधिक चाहते हैं वो है, इस दुनिया को समझना और उसमें अपना और अन्य लोगों का सार्थक रोल खोजना। इस कार्य में हम ज़रूर उनकी मदद करें। परंतु सहायता ऐसी हो जिससे बच्चों को वाकई में दुनिया समझने में मदद मिले। उत्सुक और चिन्ताग्रस्त पालक और शिक्षक कहेंगे, 'अगर इसके बाद भी बच्चे दुनिया में जीने की कोई सार्थक बात नहीं सीखे, तो फिर क्या होगा?' आप इसकी फिक्र न करें। अगर कोई बात दुनिया में जीने के लिए आवश्यक होगी तो बच्चे उसे पता करके उसे ज़रूर सीख लेंगे। वयस्क पूछेंगे, 'अगर बच्चों ने भविष्य के लिए उपयोगी बातें नहीं सीखीं, तब क्या होगा?' किसी भी बात को तब सीखा जाता है जब उसकी ज़रूरत महसूस होती हो। भविष्य में क्या सीखना होगा यह किसी को नहीं मालूम। बीस साल बाद हमें जिस ज्ञान की आवश्यकता होगी वो शायद आज उपलब्ध ही न हो। वयस्क कहेंगे, 'अगर बच्चों को खुद चुनने का मौका मिलेगा, तो वे खराब बातें ही चुनेंगे।' यह सही है कि बच्चे जो कुछ चुनेंगे उनमें से कुछ बातें काफी खराब भी होंगी। परंतु वे अच्छी बातें तभी चुनना सीखेंगे जब वे खुद उन्हें चुनेंगे और उनके सहारे जिएंगे। लोग अपने गलत चयन को पहचानें और उन्हें बदलें, यह एक महत्वपूर्ण बात है। अगर कोई कभी गलती ही नहीं करेगा तो उसे वो सुधारेगा कैसे? अगर दूसरे लोग उसकी गलती को सुधारते रहेंगे तो वो सीखेगा कैसे? सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस बच्चे को कभी असलियत में चयन करने का मौका ही न मिला हो वो सही चयन करने की अपनी क्षमता पर विश्वास कैसे करेगा? अगर उसे खुद अपनी ज़िंदगी को चला पाने का भरोसा नहीं है तो वो उसके प्रबंध के लिए किसकी शरण में जाएगा?

यहां मूल सवाल काफी सरल हैं। क्या हम बच्चों को भीरू, आज्ञाकारी, डरपोक, कायर भेड़ों जैसा बनाना चाहते हैं या फिर उन्हें मुक्त इंसानों जैसा? अगर हमें भेड़ें चाहिए तो हमारे स्कूलों की वर्तमान हालत उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त है। और अगर हमें मुक्त इंसान चाहिए तो हमें कुछ बड़े बड़े परिवर्तन करने होंगे।

1966

## चूहा-दौड़

आजकल परीक्षाओं में अधिक अंक लाने के लिए बच्चों पर बहुत दबाव है। हमें लगता है कि स्कूल और कालेज इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं। शिक्षण संस्थाएं जहां एक ओर, पालकों की महत्वाकांशाओं की शिकार हैं वहीं दूसरी ओर उन्हें, इस जटिल समाज की ज़रूरतों को पूरा करना है। इस दलील में शायद ही कुछ सच्चाई हो। कुछ ऐसे भी स्कूल हैं जिन्हें, उनकी इच्छा के विरुद्ध, पालकों की मांग के कारण, पढ़ाई के कारखानों में परिवर्तित कर दिया गया है। परन्तु ज़्यादातर जगहों पर शिक्षाविद् खुद ही इस दबाव का कारण हैं। बच्चों की बुद्धि, चरित्र और क्षमताओं के सम्पूर्ण विकास के बजाए ये शिक्षाविद, अपने हितों के लिए बच्चों को को अहंकार, धन और प्रतिष्ठा से प्रेरित स्पर्धा में झोंक रहे हैं। शिक्षण संस्थाएं बच्चों की सेवा करती हैं एक कोरा मिथक है। असलियत में बच्चों

का केवल एक ही रोल होता है – वे अपने बेहतरीन परिणामों से इन संस्थाओं के लिए गौरव हासिल करें।

यह बात केवल कालेजों और विश्वविद्यालयों के लिए ही सच नहीं है। मैंने कई सेकेंडरी और प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों से भी बच्चों पर भारी कार्य बोझ की बात सुनी है। उनके अनुसार अगर बच्चों का बोझ कम करने से उनके परीक्षाओं में कम अंक आएंगे और उससे स्कूल की प्रतिष्ठा धूमिल होगी। मुझे अभी भी एक प्रतिष्ठित प्राथमिक स्कूल के अनुभवी शिक्षक की बात याद है। उसने एक मीटिंग में कहा कि यदि बच्चों का परीक्षाफल अन्य प्रतिद्वंदी स्कूलों की तुलना में नीचे गिरा तो उन्हें अपने स्कूल को बंद करने के लिए मज़बूर होना पड़ेगा। यह तब, जबकि इस स्कूल में दाखिले के लिए, प्रत्याक्षियों की एक लंबी कतार थी। मुझे कुछ ऐसे स्कूलों के बारे में भी पता है जहां शिक्षकों का वेतन बच्चों के परीक्षाफलों के अनुसार ऊपर-नीचे किया जाता है।

कुछ दिन पहले मैं न्यू इंग्लैन्ड के एक विख्यात स्कूल में, पुराने छात्रों के एक भोज में भाग लेने के लिए गया। वहां एक शिक्षक ने अपने भाषण में, बड़े गर्व से उन सफल छात्रों का प्रतिशत बताया जिन्हें अपने मनपसंद कालेज में दाखिला मिल गया था। उन्होंने स्कूल को गौरव दिलाने वाले अन्य छात्रों का भी उल्लेख किया। मुझे यह सुनकर लगा जैसे कोई उत्पादक, अन्य प्रतिद्वंदियों की तुलना में, अपने माल की तारीफ कर रहा हो। दूसरी ओर जब स्कूल के शिक्षक कम अंक प्राप्त करने वाले बच्चों के बारे में चर्चा करते हैं तो उनकी आवाज़ एकदम बदल जाती है। इन बच्चों को एक घटिया माल, यानि कम्पनी के नाम पर धब्बा समझा जाता है, और उनका उत्पादन बंद करने की बात कही जाती है। बहुत कम बच्चे ही यह कहते हैं कि, स्कूल ठीक नहीं हैं। अक्सर स्कूल ही बच्चों को दोषी ठहराते हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महात्वाकांक्षी स्कूल, काबिल बच्चों का भीषण शोषण करते हैं। ये स्कूल बच्चों को व्यापार जगत की तरह एक 'माल' के रूप में देखते हैं और उनपर विनाशकारी मनोवैज्ञानिक दबाव डालते हैं।

इन स्कूलों में बारह-तेरह साल के बच्चे, दिन भर पढ़ने के बाद रात को दो-तीन या उससे ज़्यादा घंटे का होमवर्क करते हैं जो सप्ताह के अंत में और अधिक हो जाता है। बच्चों की आयु बढ़ने के साथ-साथ यह भार भी बढ़ता जाता है। कालेज में जाने से पहले बहुत से बच्चे सप्ताह में सत्तर घंटे से भी ज़्यादा समय पढ़ते हैं। औद्योगिक क्रांति के बर्बर दिनों के बाद से, बच्चों ने कभी भी इतना अधिक काम नहीं किया होगा।

मेरी एक चौदह वर्षीय छात्रा ने मुझसे शिकायत नहीं, पर मज़ाक के लहज़े में कहा कि जब वो रात को लोकल ट्रेन से घर जाती है तो उसे ट्रेन में तमाम व्यापारी मिलते हैं जो घर जाकर आराम करने की सोचते हैं जबकि उसे घर पर दो-तीन घंटे का गृहकार्य करना होगा। बहुत से आदमी अपने पूरे दिन के काम को, इस लड़की के स्कूल कार्य से कम कठिन पाते होंगे।

अपने पक्ष में स्कूल और कालेज यह दलील देते हैं। बेहतर प्रशिक्षित लोगों की सामाजिक मांग के कारण ही स्कूल और कालेज छात्रों पर अत्यधिक दबाव डालने को मज़बूर होते हैं। वैसे यह दलील सरासर झूठी है।

असलियत कुछ और ही है। इन शिक्षाविदों का केवल एक ही उद्देश्य है – कालेज खोजते पालकों और कर्मचारी खोजती कम्पनियों को यह बताना कि, उनके कालेज में दाखिला मुश्किल होने के कारण, वो दूसरों से बेहतर हैं। इसलिए सबसे अच्छे छात्रों को उन्हीं के कालेज में दाखिला लेना चाहिए और सबसे चोटी की कम्पनियों को भी उन्हीं के स्नातकों को नौकरियां देनी चाहिए।

हाल ही में मैंने एक प्रमुख कालेज में, शिक्षकों से बातचीत के दौरान कहा कि हमारे विश्वविद्यालयों का उद्देश्य भविष्य के उच्च पदाधिकारियों, वैज्ञानिकों को व्यवसायिक प्रशिक्षण देना नहीं, बल्कि आज के बच्चों को विश्व का ज़िम्मेदार और सुशिक्षित नागरिक बनाना है। मेरी बात को सुनकर किसी ने मुझसे एक बहुत सटीक और रोचक प्रश्न पूछा: अगर कालेज भविष्य के 'नेताओं' का निर्माण नहीं करेगा तो भविष्य में उसे 'एलूमिनाई फंड' के लिए धन कहां से मिलेगा – जो कालेज के लिए प्रतिष्ठा की रेस में बने रहने के लिए ज़रूरी है? बताएं कहां से? यह वाकई में एक कठिन समस्या है। परंतु यह समस्या शिक्षाविदों के लिए एक प्रमुख चिंता का विषय नहीं होना

चाहिए। इस समस्या के कारण बच्चों पर अच्छे परिणामों के लिए अत्याधिक दबाव डालना तो सरासर गलत होगा।

इन दबावों का क्या असर होता है? इनका काफी हानिकारक असर पड़ता है। इनसे बच्चों में सही उत्तर पाने की चिंता बढ़ जाती है और वे गलती करने से कतराने लगते हैं। बच्चे अपने व्यवहार में बचाव की रणनीति अपनाने लगते हैं जिससे उनकी बौद्धिक प्रतिभा ढंक जाती है और सच्ची सीख असंभव हो जाती है।

जिन पंद्रह-सोलह वर्ष के बच्चों को मैं अभी पढ़ाता हूं उनमें इस दुष्प्रभाव को अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है। किसी व्यक्ति की ज़िंदगी में यही वो वक्त होता है जब वो दबाव से सबसे ज़्यादा मुक्ति चाहता है। ज़िंदगी के इस मुकाम पर आकर व्यक्ति को अपनी इंसानियत का बोध होता है। वो अपने आपको जानना और समझना चाहता है। और इस समझ पर ही यह निर्भर करता है कि बाद में वो कैसा इंसान बनेगा। यह एक ऐसा समय होता है जब व्यक्ति खुद को समझता है और खुद का निर्माण भी करता है, जैसा कि प्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक थोरू ने कहा था कि हरेक इंसान खुद अपनी सबसे उत्तम कलाकृति यानि 'मास्टरपीस' होता है।

व्यक्ति की पहचान किन चीज़ों से बनती है? उसके गुणों, रुचियों और विश्वासों से जिन्हें वो खोजता और संजोता है। जो न खो सकते हों और न ही चोरी किए जा सकते हों। जो उस व्यक्ति की पदवी, सफलता और दूसरों की राय पर निर्भर न हों। उसके आदर्श व्यक्ति कौन हैं। उसे किस प्रकार की पुस्तकें, संगीत, खेल पसंद हैं। कौन सी रुचियों में उसे मज़ा आता है। चाहें किसी की उनमें रुचि हो या नहीं, और चाहें वो करने लायक हों या नहीं, फिर भी उसने उन रुचियों को चुना है। वो अपने जीवन को समृद्ध बनाने के लिए कौन से नए अनुभव खोजता है।

बढ़ते नौजवानों को यह सब खोजने, चखने, चुनने और त्यागने के लिए समय चाहिए। वो कौन है और वो वैसा कैसे बना; भविष्य में वो क्या बनना चाहता है और उसके लिए उसे क्या करना होगा? इन सब प्रश्नों के लिए बच्चों को सोचने और बातचीत का समय चाहिए होता है। उसे अनुभव करने और उन्हें पचाने का समय चाहिए होता है। हम बच्चों को यह सब करने का वक्त नहीं देते।

इसके अलावा हम नौजवानों को हमेशा एक कटघरे में खड़ा करके उनके बारे में लगातार निर्णय लेते रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे खुद के मूल्यांकन, और सपनों को त्याग देते हैं। वे हमारे मूल्यांकन और सोच के अनुसार आगे बढ़ते हैं। वयस्कों के सामने उनकी कैसी छवि है? इसी प्रश्न के बारे में बच्चे सोचते रहते हैं। दूसरे लोग उनके बारे में क्या सोचते हैं, बच्चे इसी बात से त्रस्त रहते हैं।

नौजवानों के बारे में हमारे निर्णय अधिकतर आलोचनात्मक, बुरे और कठोर होते हैं और हम उनकी गल्तियों का बढ़ा-चढ़ा कर बखान करते हैं। शायद इसी कारण वे अपने आप को बुरा समझने लगते हैं। असल में नौजवानों की उम्र अपनी अस्मिता, अपनी असली कीमत पहचानने की होती है। पर हम इसका बिल्कुल उल्टा करते हैं।

जिस प्रतिस्पर्धा में हमने बच्चों को झोंका है उसमें हरेक प्रत्याक्षी हारता ही है। बच्चे स्कूल जाएं और वहां अच्छा करें भर से अब पालक संतुष्ट नहीं हैं। बच्चों के लिए भी अब वो पर्याप्त नहीं है। अब सभी का एकमात्र लक्ष्य होता है - किसी विख्यात कालेज में दाखिला लेना। बाकी कुछ भी हार का संकेत होगा। मैं अक्सर छात्रों को यह कहते हुए सुनता हूं, 'मैं फलां कालेज में दाखिला चाहता था, परंतु लगता है कि मैं उसके योग्य नहीं हूं।' बच्चों का इस प्रकार का सोच एक बहुत दर्दनाक बात है। किसी दूर स्थित कालेज द्वारा दाखिला नहीं दिए जाने से बच्चे अपने आपको बेवकूफ और निकम्मा समझने लगे यह बहुत गलत बात है।

बच्चों पर हम जो दबाव डाल रहे हैं उसके कारण वे अपने आपको असहाय और सत्ताहीन महसूस करने लगे हैं। मेरे एक मित्र ने हाल ही में एक प्रतिष्ठित कालेज से स्नातक की डिग्री हासिल की है। वहां छात्रों को पढ़ने के लिए इतनी अधिक सामग्री दी गई, कि किसी अच्छे-से-अच्छे पाठक के लिए भी उसमें से आधी भी सामग्री को पढ़ पाना असम्भव था।

जब छात्रों को ऐसा काम दिया जाता है जिसे करना असंभव हो तो वे अपने आपको चूहों की दौड़ में थके और पस्त किसी व्यापारी जैसा महसूस करते हैं। उन्हें लगता है जैसे वो अपने जीवन पर नियंत्रण खो बैठे हों। बाहरी शक्तियां उन्हें, अपने मनसूबों को साधने के लिए लगातार दौड़ने के लिए उकसाती हैं। इससे उन्हें सांस लेने की,

कुछ सोचने तक की फुर्सत नहीं मिलती। जैसा कि यूनान में पुराने ज़माने में होता था वे पढ़ने-लिखने के बाद अपने समाज के साथ जुड़कर उसमें योगदान नहीं देना चाहते। छात्रों को अपनत्व का अहसास नहीं होता। उन्हें लगता है कि कोई अमानवीय मशीन उन्हें अपने स्वार्थों के लिए ढाल रही हो।

मेरे छात्र मुझसे पूछते हैं, 'मैं अपने आपको कैसे बचा सकता हूँ? मैं अपने अंदर के असली इंसान को इस समाज से कैसे सुरक्षित रख सकता हूँ?' प्रश्न पूछने के बाद वो निराश होकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे अपनी अस्मिता को नहीं बचा पाएंगे। पौल गुडमैन ने शायद ठीक ही कहा था कि हमने अपने प्रतिभाशाली छात्रों पर गुलामी की मनोदशा थोपी है। हमने नई पीढ़ी को, जीवन के सुंदर लक्ष्य और सपने न देकर, उन्हें पराधीनता और गुलामी की बेड़ियां दी हैं। अब उनमें अपने सपनों को जीने के लिए ज्ञान की चाह और न ही सत्ता की ललक नहीं बची है। इसलिए वो बताए हुए कार्यों को ही अच्छी तरह करते हैं क्योंकि उनमें मना करने की हिम्मत अब नहीं बची है।

छात्रों में मिशन की भावना को नष्ट करके हम, काम और आराम के क्षणों में उनके आनंद को भी भ्रष्ट कर देते हैं। थोरू ने लिखा था: 'सबसे निपुण मज़दूर अपने दिन को काम के बोझ से नहीं भरेगा। वो उस कार्य को चुनेगा जो उसे आसान और आनंददायी लगेगा।' आदमी में काम करने की प्रबल इच्छा हो, यानी वो अपने आपको उस काम से रोक ही न पाए और काम मिलते ही उसमें आनंद विहोर हो उठे। जो व्यक्ति इस अनुभूति से वंचित है उसे अवश्य किसी ने छला है। वो अब काम को ठीक से नहीं करेगा। शायद वो कार्य करने लायक ही न हो।

मुझे अपने एक पुराने छात्र की याद है। उसे कई हफ्तों तक, छुट्टी के दिनों में भी, काम पूरा न करने के कारण स्कूल में रोक कर रखा गया। जब एक छुट्टी वाले दिन मैं उससे मिला तो वो अपनी रुचि के एक काम में व्यस्त था। वो एक छोटे प्रिंटिग प्रेस पर काम कर रहा था। मैंने रोष में उत्तेजित होकर उससे पूछा, 'अगर तुम अपनी मनमर्ज़ी के काम ही करोगे तो तुम उन्हीं कामों को ही क्यों नहीं करते रहते।'

उसने धीरे से मुझे बड़ा समझदारी का जवाब दिया, 'नहीं मैं ऐसा नहीं कर सकता। वो मुझे और काम सौंप देंगे जिसे मुझे करना ही होगा।'

पहले के अपेक्षा यह सच्चाई आज ज़्यादा प्रखर है। स्कूल अपने आपसे यह नहीं कह सकते, 'देखो, अब बहुत हो चुका।' अगर ऊंचे छल्ले को बच्चा पार कर लेता है तो स्कूल उसे सफलता की निशानी मानकर छल्ले को और ऊंचा उठा देते हैं।

इन दबावों के विकराल प्रभाव हमें साफ-साफ दिखाई देते हैं। इनसे मनोवैज्ञानिक विचलन और खुदकशी बढ़ी है। छात्र शराब और ड्रग्स का अत्याधिक सेवन करने लगे हैं। न केवल असफल छात्रों में परंतु तेज़, प्रतिभाशाली छात्रों में भी नकल की वारदातें भी बढ़ी हैं। यह एक दुखद बात है कि हमारे बहुत से अच्छे और काबिल छात्र इस बात से पूर्णत: सहमत हैं कि सफलता के लिए उन्हें नकल करनी ही चाहिए। सफलता उनके लिए इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि उसके लिए नकल करना भी सही काम बन गया है।

अच्छे अंक पाने के दबावों के कारण, सीखने की प्रक्रिया ही भ्रष्ट हो गई है। कथनी चाहें कुछ भी हो, परंतु हमारी करनी उसकी उल्टी होती है। जिस प्रकार हम पुरुस्कार बांटते हैं, उससे छात्रों को लगता है कि सीखना समझ और आनंद के लिए नहीं, बल्कि कोई इनाम पाने के लिए है। स्कूलों और कालेजों में विषय की असली समझदारी ज़रूरी नहीं है, महत्वपूर्ण बात है कुछ लोगों को ऐसा लगे कि तुम्हें आता है। ज्ञान इसलिए मूल्यवान नहीं होता क्योंकि हम उससे सामाजिक और निजी समस्याओं को सुलझाते हैं, पर इसलिए क्योंकि ज्ञान एक बाज़ारू माल है जिसे हम ऊंचे दाम पर बेंच सकते हैं। स्कूल एक धोखाधड़ी का कारोबार बन गया है। स्कूल में सफलता पर ही असली ज़िंदगी की सफलता निर्भर करती है जो इस खेल को सही तरीके से खेलने से ही हासिल होती है।

क्या स्कूलों और कालेजों को ऊंचे ग्रेड्स और परीक्षाफलों की मांग को कम करने या हटाने के लिए राज़ी किया जा सकता है? कई कारणों से स्कूल और कालेज इस बात को नहीं स्वीकार करेंगे।

पहले, उन्हें इस बात का कोई अंदाज़ ही नहीं है कि प्रतिष्ठा की इस प्रतिस्पर्धा से, कितने अधिक अमरीकी नौजवानों और शिक्षा का नुकसान हो रहा है। वो इसके बिल्कुल विपरीत शब्दावली - शिक्षा को अधिक उन्नत

बनाने और ऊंचे मानकों की बात करते हैं।

दूसरे, उन्होंने अपने अनुभवों से पाया है कि ऊंचे अंक प्राप्त करने वाले छात्रों की कालेज में टिके रहने की संभावना ज़्यादा है। पर स्कूलों की सारी पढ़ाई ही ऊंचे अंक लाने पर आधारित है। अगर स्कूल परीक्षाओं और अंकों के महत्व को कम करेंगे तो शायद वो ऐसे छात्र भी कम लेंगे जो सिर्फ इम्तहान पास करने में ही कुशल हों।

तीसरे, अगर कालेज दाखिले को ऊंचे अंकों के मापदण्ड से मुश्किल नहीं बनाएंगे तो उनके पास दाखिला लेने वालों का अम्बार लग जाएगा और फिर वो उनमें से सही चुनाव कैसे करेंगे। पर क्योंकि कालेजों में दाखिले के लिए वैसे ही लंबी लाईनें हैं इसलिए उन्हें ऊंचे अंकों के अलावा दाखिले के अन्य मापदण्ड ढूंढने चाहिए। और अगर कालेजों के पास उसके बावजूद भी बहुत ज़्यादा अर्जियों हों तो दाखिले लॉटरी के ज़रिए किए जाने चाहिए। इससे अगर कोई छात्र किसी लोकप्रिय कालेज में अर्जी भरेगा तो दाखिले की कम संभावना का पता उसे पहले से ही होगा। दाखिला न मिलने पर छात्र उसे संयोग (चांस) मानेगा और खुद को अयोग्य नहीं ठहराएगा।

इसके लिए कुछ प्रतिष्ठित कालेज इकट्ठा मिलकर कुछ कर सकते हैं। वे हर वर्ष, संयुक्त रूप से कम अंक पाने वाले, परन्तु अन्य क्षेत्रों में कुशल, कुछ छात्रों को, दाखिल कर सकते हैं। अगर ऐसा करने से उन्हें लगता है कि ये छात्र उच्च अंक वाले छात्रों जितने ही मूल्यवान और प्रतिभाशाली हैं तो वे अगले सत्रों में कम-अंक वाले छात्रों की संख्या को बढ़ा सकते हैं। इस नीति से प्राथमिक और सेकण्डरी स्कूल के शिक्षक उच्च अंकों के अलावा अन्य उद्देश्यों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। इससे इम्तहान पास करने में अकुशल तमाम प्रतिभाशाली नौजवानों को एक उम्मीद का सहारा मिलेगा।

अगर कालेज प्रतिष्ठा और प्रतिस्पर्धा के लिए उच्च अंक वाले छात्रों को भर्ती करने की अपनी मंशा को इसके बाद भी नहीं बदलते हैं तो स्कूलों को ऐसे कालेजों का बहिष्कार करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले इस अवधारणा को खंडित करना होगा कि अच्छी शिक्षा, केवल नामी-गिरामी, प्रतिष्ठित कालेजों में ही नहीं मिलती।

मुझे ऐसे बहुत से छात्रों के बारे में पता है जो प्रतिष्ठित कालेजों में हैं परंतु जिन्हें वहां का पाठ्यक्रम नापसंद है और जिनके लिए वहां रहना एक प्रेरक अनुभव नहीं है। मैं ऐसे भी कई लड़के-लड़कियों को जानता हूं जो कम प्रतिष्ठित संस्थाओं में पढ़ने के बावजूद ज़्यादा खुश और प्रेरित हैं।

कम प्रतिष्ठा वाले कालेजों में सकता है एकदम चोटी के अध्यापक कम हों। पर यहां अध्यापकों के पास जिज्ञासु छात्रों के काम में रुचि लेने और उनके साथ वक्त बिताने का ज़्यादा समय हो। यहां के छात्रों पर दबाव कम होने के कारण शायद उन्हें अपनी रुचियों के लिए अधिक समय मिलता हो।

स्कूल और कालेजों को इस अवधारणा को जड़ से ही मिटाने की कोशिश करनी चाहिए कि शिक्षा किसी सत्ताधारी की कृपादृष्टि पाने के लिए अन्य छात्रों के खिलाफ एक रेस है। महत्वपूर्ण क्या है? उन्हें उस सच्चाई को सबके सामने रखना चाहिए जिसे येल विश्वविद्यालय के प्रेसीडेंट, ग्रिसवोल्ड ने बड़ी स्पष्टता से कहा है – 'पढ़ने वाले इंसान के खुद-सीखने की इच्छा-शक्ति और क्षमता और साथ में हरेक काम का आनंद लेते हुए उसमें अर्थ और सच्चाई खोजना।'

हमें कुछ उत्साहवर्धक चिन्ह नज़र आ रहे हैं। हमारे कुछ प्रतिष्ठित कालेज और विश्वविद्यालय अब समझ रहे हैं कि परीक्षा के उच्च अंक ही भर्ती का एकमात्र मापदण्ड नहीं होना चाहिए। हारवर्ड विश्वविद्यालय का मेरा एक छात्र अब एक विख्यात कालेज में प्रोफेसर है। उसके एक छात्र न हाई स्कूल भी पूरा नहीं किया। स्कूल छोड़ने के पश्चात उसने दूर-दराज़ की यात्राएं कीं और स्वतंत्र रूप से कामकाज करता रहा। बाद में हारवर्ड और ब्राउन दोनों विश्वविद्यालयों में उसे दाखिला मिल गया।

हमारे स्कूल यह सोचने लगे हैं कि मोलतोल की सारी सत्ता कालेजों के पास है। परंतु ऐसा नहीं है। अगर हमारे छात्रों को प्रतिष्ठित कालेज चाहिए तो इन विख्यात कालेजों को अच्छे छात्र भी चाहिए। मान लें कि बहुत से स्कूल संयुक्त रूप से कालेजों से यह कहें, 'हमारे सबसे अच्छे छात्र, उच्च अंकों की प्राप्ति से तंग आ चुके हैं। वे अब अपनी रुचि और खुशी के लिए ही सीखना चाहते हैं। आप हमें भरोसा दिलाएं और दिखाएं कि आपके यहां उच्च अंक कम महत्वपूर्ण हैं, नहीं तो हमारे छात्र अन्य कालेजों की तलाश करेंगे, और इस काम में स्कूल छात्रों की

मदद करेंगे।' क्या इससे तस्वीर नहीं बदलेगी? दबाव तो दोनों ओर से डाला जा सकता है।

अब ज़रा दीर्घकालीन नज़रिए से देखें। मेरी राय में कालेजों को, हरेक अर्जी भरने वाले को दाखिला दे देना चाहिए। पर अगर वहां सारी सीटें भर गयीं तो क्या होगा? फिर उन्हें वही करना चाहिए जो हर सिनेमाघर, नाट्यग्रह और लेक्चर-हाल करते हैं। बाहर एक नोटिस लटका देना चाहिए कि अब सीटें भर गई हैं और दर्शकों को अगले शो तक इंतज़ार करना होगा। अगर कोई छात्र किसी विख्यात और नामी-गिरामी कालेज में जाने का दीवाना होगा तो उसे उसके लिए शायद चार साल का इंतजार करना पड़े और उसके पश्चात ही उसे दाखिला मिले। बहुत से विवेकशील छात्र दूसरे कालेजों - जो शायद इतने प्रतिष्ठित न हों, में दाखिला ले लेंगे क्योंकि वहां पर लाइन इतनी लंबी न हो। भीड़ की समस्या छात्रों की समस्या बने, कालेजों और संस्थाओं की नहीं। इसी प्रकार छात्रों को ही इस बात का निर्णय लेने दें कि वो कालेज का कार्य कर पाएंगे या नहीं। जब मैं किसी संगीत-हाल में कोई मुश्किल संगीत को सुनता हूं तो बाहर निकलते ही उसको लेकर कोई मेरी परीक्षा नहीं लेता। हो सकता है कि वो संगीत इतना क्लिष्ठ हो कि मुझे पसंद ही न आया हो, या समझ में न आया हो और संगीत-हाल में जाकर मैंने फालतू में अपने पैसे और समय बरबाद किए हों। इसे मेरी बदकिस्मती समझें। जब मैं कोई पुस्तक खरीदता हूं, या नाटक देखता हूं, या किसी भाषण या म्यूज़ियम में जाता हूं तो भी यही बात लागू होती है। छात्रों को भी ये खतरे मोल लेने दें।

1966

## शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते हैं

क्या शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते हैं? शायद हां, बहुत अधिक। सुबह स्कूल जाने से शाम को वापिस आने तक शिक्षक बोलना बंद नहीं करते हैं। अधिक बोलने से जब अगले दिन उनका गला खराब होता है तभी उन्हें इस बात का आभास होता है।

शिक्षक क्या बोलते हैं? अक्सर वो कोई जानकारी देते हैं। या फिर पाठ का कोई अंश पढ़ते हैं। या फिर वो कोई ऐसी बात बताते हैं जो उन्हें लगता है कि छात्रों को जानना चाहिए। यह बातें व्याकरण के नियम, स्थानों और घटनाओं के बारे में तथ्य, किसी कविता का सार, किसी पुस्तक का महत्व आदि हो सकती हैं। शिक्षकों को जानकारी देना अच्छा लगता है। इसी में उन्हें आनंद मिलता है और यही शायद उनका पेशा भी है।

कभी-कभी शिक्षक कोई प्रयोग दिखाते हैं, व्याख्या, आलोचना या फिर काम को जांचते हैं। देखो, लंबा भाग इस प्रकार होता है। द्विघाती समीकरणों के गुणनखण्ड इस प्रकार निकाले जाते हैं। इस प्रयोग को इस तरह किया जाता है। रिपोर्ट इस प्रकार लिखी जाती है। देखो, इसलिए समस्या का सही उत्तर नहीं आया। तुम्हें इस चित्र के साथ ऐसा करना चाहिए। आखिरी वाक्य पढ़कर आपको शायद कुछ आश्चर्य हो परंतु मैंने अपने सीमित अनुभवों में कला-शिक्षकों को भी अन्य शिक्षकों जितना ही बोलते हुए पाया है।

### चर्चाओं में प्रमुख

कभी-कभी शिक्षक चर्चाएं भी आयोजित करते हैं जिनमें वे छात्रों से कहीं अधिक बोलते हैं। कुछ समय पहले मैंने एक विडियो-टेप देखा जिसमें एक विशेषज्ञ शिक्षक समाजशास्त्र पर चर्चा सत्र संचालित कर रहा था। उसमें हाई-स्कूल के छात्र मुक्त होकर बोल रहे थे, परंतु शिक्षक उनसे कहीं अधिक बोल रहा था। बच्चे शिक्षक के प्रश्नों के उत्तर देने का भरसक प्रयास करते परंतु शिक्षक उनके उत्तरों की व्याख्या में और अगला प्रश्न पूछने में छात्रों से कहीं ज़्यादा बोलता।

अधिकांश चर्चाएं वैसे ही निरर्थक होती हैं। आप किसी भी शिक्षक के मैन्युअल को उठा कर देखें। जल्द ही आपको कुछ ऐसा पढ़ने को मिलेगा: 'निम्न बिंदुओं को सामने लाने के लिए चर्चा आयोजित करें . . .।' चर्चा शुरू होने से पहले ही अधिकांश शिक्षकों के सामने कुछ 'बिंदु' होते हैं जिन्हें वो छात्रों से उगलवाना चाहते हैं। छात्रों को

यह पता होता है। इसलिए शिक्षक क्या चाहता है वे उन सुरागों को खोजने का प्रयास करते हैं। वो कहते हैं, 'मेरी समझ में नहीं आया।' या 'क्या आप प्रश्न को दुबारा दोहराएंगे?' या 'आपने जो कहा उसका मतलब क्या है ....।'

धीरे-धीरे करके शिक्षक का प्रश्न अधिक केंद्रित होता जाता है और अंत में वो उत्तर ही बता देता है। जब शिक्षक को अपना अपेक्षित उत्तर मिल जाता है फिर वो उसकी कुछ और व्याख्या करता है जिससे कि सभी छात्रों को 'सही' उत्तर समझ में आ जाए।

एक बार मैं पांचवी कक्षा को गणित पढ़ा रहा था। मैं अपने आपसे काफी खुश था क्योंकि 'बताने' या 'दिखाने' की बजाए मैं प्रश्न पूछकर उस बच्ची को 'सोचने' के लिए बाध्य कर रहा था। मैं पहले प्रश्न के बाद किसी अन्य सरल प्रश्न पर ज़्यादा केंद्रित प्रश्न पूछता। उसके बाद भी जवाब नहीं मिलता। जब मैंने अपनी शांत बैठी छात्रा की ओर देखा तो वो बिल्कुल भी विचलित नज़र नहीं आई। वो बस चुपचाप बैठी रही। तब मुझे समझ में आया कि वो मेरे अगले एकदम केंद्रित प्रश्न का इंतज़ार कर रही थी - जिससे उसे सही उत्तर ही पता चल जाता।

अक्सर चर्चाओं का यही हश्र होता है। छात्रों को पता होता है कि शिक्षक को सभी उत्तर मालूम हैं। वो यह भी जानते हैं कि अगर वो धीरज रखकर संकेत और इशारे देते रहेंगे तो अंत में शिक्षक उन्हें सही उत्तर खुद ही बता देगा।

शिक्षकों का ज़्यादातर बोलना कक्षा की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए - बच्चों को सीधी लाइन में बैठाने के लिए ही होता है। हमने एक गलत बात सीखी है - कि जब सभी बच्चे, एक समय पर एक ही काम करते हैं तभी वो सबसे अच्छा सीखते हैं। ऐसा तो कारखानों में होता है।

कक्षा में हमारे पास बीस या पच्चीस छात्र होते हैं जिन्हें हम एक निश्चित, चुने हुए रास्ते पर ले जाने का प्रयास करते हैं। शायद उनमें से कोई भी छात्र उस रास्ते पर नहीं चलना चाहता है क्योंकि उन सबके दिमाग में अलग-अलग बाते होती हैं जिन्हें वे करना चाहते हैं। इसीलिए हमें लगातार बच्चों को इकट्ठा करके उन्हें पीछे से हांकना पड़ता है बिल्कुल वैसे जैसे कोई कुत्ता भेड़ों के झुंड के पीछे दौड़ता है। हमारी आवाज़ ही कुत्ते का रोल अदा करती है।

अच्छा बच्चों, अब कागज़ और पेंसिल निकालो और किताब का पन्ना नम्बर चौंतीस खोलो। हम आज फलां काम करेंगे - अरे टॉमी, तुम्हारी पेंसिल कहां गई? क्या? अच्छा तुम? मैंने तुमसे पहले कई बार कहा है कि तुम कक्षा में काम करने की पूरी तैयारी से आया करो। बाकी सभी बच्चे तुम्हारा इंतज़ार कर रहे हैं। अच्छा तुम मेरे पास आओ और मुझे दूसरी पेंसिल ले लो।'

'मरिया, तुम हेलन के कान में फुसफुसाना बंद करो। क्या तुम्हारी पुस्तक का सही पन्ना खुला है? देखो, अगर तुम दोनों आपस में बातें नहीं कर रहे होते तो तुम मेरी बात सुन लेते।'

यही सिलसिला ज़ारी रहता है। बच्चों को जो काम करना है शिक्षक उसकी पूर्व-तैयारी करने के लिए बोलते हैं। फिर उस काम को पूरा करवाने के लिए बोलते हैं। शिक्षक पिछले दिन के गृहकार्य के बारे में पूछते हैं और फिर अगले दिन का काम बताते हैं। शिक्षक इसलिए बोलते हैं जिससे कि हरेक छात्र का ध्यान कक्षा में सामने की ओर केंद्रित रहे।

कुछ समय पहले मैंने एक विशेषज्ञ शिक्षक को देखा। उसके अपनी कक्षा के साथ अच्छे संबंध थे। वो स्लाइड फिल्म प्रोजेक्टर के ज़रिए बच्चों को अंकगणित पढ़ा रहा था। उसे देखकर मैं अचरज करने लगा कि उसके कितने शब्द, वाकई काम से जुड़े थे और कितने शब्द वो केवल छात्रों को गोलबंद और इकट्ठा रखने के लिए इस्तेमाल कर रहा था। कुछ समय बाद यह स्पष्ट हो गया कि कक्षा में काम पर कम, परंतु नियंत्रण पर दुगना-तिगुना बल था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

### ट्यूनिंग ऑउट

शिक्षकों के बहुत अधिक बोलने का नतीज़ा है कि जो बच्चे छुटपन में, शिक्षकों की बात पर पूरा ध्यान देते थे वे अब बहुत कम ध्यान देते हैं। अब बच्चे दिल लगाकर नहीं सुनते - कोई वयस्क उबाऊ बातें सुन रहा हो। अगर यही कुछ लंबे समय तक चलेगा तो बच्चे ध्यान से सुनना ही भूल जाएंगे। वो ध्यान से सुनने का मज़ा और

तरीका ही भूल जाएंगे। यह बहुत हानिकारक सिद्ध होगा।

शिक्षकों को लगता है कि बच्चे उनकी बातें सुन नहीं रहे हैं। एक बार मैंने एक अनुभवी शिक्षक को कुछ कठिन समस्याओं का हल समझाते हुए देखा। जिससे बच्चों का ध्यान इधर-उधर न भटके वो शिक्षक समस्या के हरेक चरण को ब्लैकबोर्ड पर लिखने के बाद किसी एक छात्र से पूछता, 'क्या यह ठीक है?' जिस बच्चे से सवाल पूछा जाता वो 'हां' का जवाब देता। फिर उसके बाद शिक्षक अगला चरण लिखता। तरीका काफी उबाऊ था और मेरा दिमाग बार-बार और चीज़ों के बारे में सोच रहा था। तभी अचानक मेरा ध्यान कक्षा में एक लड़के की ओर गया।

जिस लड़के से उत्तर के ठीक होने के बारे में पूछा गया था उसने कहा, 'नहीं सर, उत्तर गलत है। सही उत्तर इस प्रकार का होगा।' शिक्षक ने उसकी बात मानी, गलती ठीक की और उसी तरह फिर से आगे बढ़ा। क्लास खत्म होने के बाद शिक्षक ने मुझसे कहा, 'आपने देखा कि मैंने बच्चों को कैसे फंदे में फंसाया। ऐसा मैं अक्सर ही करता हूं। इससे बच्चों को हमेशा सर्तक और तैयार रहना पड़ता है।' एक बात शिक्षक ने गौर नहीं की। फंदा फेंकते समय उसकी आवाज़ बदल गई थी। बच्चों ने तुरंत उस संकेत को ताड़ लिया और गलती को पकड़ लिया।

हां शिक्षकों को यह पता होता है कि बच्चे उनकी बातों पर ध्यान नहीं देते हैं, और बच्चों का ध्यान बनाए रखने के लिए उनके पास कुछ छोटी युक्तियां होती हैं। परंतु बच्चे इन युक्तियों को बहुत जल्दी से समझ जाते हैं। बच्चे शिक्षक की बातें सुनते हैं पर उतने ध्यान से नहीं। यह एक खराब बात है।

पर सबसे महत्वपूर्ण बात है कि जहां शिक्षक खूब बोलते हैं वहीं बच्चों को इसका बहुत कम अवसर मिलता है। बहुत से स्कूलों में बच्चे तभी बोल सकते हैं जब शिक्षक उनसे कोई बात पूछता है। बहुत से स्कूलों में दो पीरियडों के बीच के समय में भी बोलने की मनाही होती है। कई स्कूलों में खाने की छुट्टी के दौरान भी बच्चों के बात करने पर पाबंदी होती है। मैंने कुछ ऐसे स्कूलों के बारे में भी सुना है जहां दोपहर के अवकाश में भी बच्चे एक-दूसरे से बातचीत नहीं कर सकते हैं।

कुछ लोग अवश्य पूछेंगे, 'तो इसमें बुराई क्या है?' बच्चे स्कूल में सीखने के लिए आते हैं, बातचीत करने के लिए नहीं।' जैसे सीखना एकदम निष्क्रिय कार्य हो - नल से केतली में पानी भरने के समान।

मुश्किल यह है कि बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव करने से उनका सीखना कम हो जाता है। सच्ची सीख तभी होती है जब सीखने वाला दोनों-रोल इकट्ठे निभाए - सीखने वाले का और शिक्षक का, कर्ता और आलोचक का, सुनने वाले और बोलने वाले का। जो छात्र पुस्तक में लिखी बात को केवल याद करेगा वो उसमें भी असफल होगा। कुशल सीखने वाला पुस्तक से बातचीत, तर्क-वितर्क करेगा। वो खुद से सवाल पूछेगा और सीखने के दौरान लगातार अपनी समझ को जांचता रहेगा। कमज़ोर छात्र को यह पता ही नहीं होगा कि उसने क्या समझा और क्या नहीं। पता लगाने का यह काम वो शिक्षक के ऊपर छोड़ देता है।

किसी भी हुनर - पेंटिग, संगीत, खेलकूद सीखते समय, सीखने वाले को लगातार उस काम को करके उसका मूल्यांकन करना होता है और अपनी गल्तियां समझनी होती हैं। क्या मेरी ताल और लय ठीक है? क्या मैं गेंद को ठीक तरह से देख रहा हूं? छोटे बच्चे जो अभी चलना, बोलना और अन्य सैकड़ों चीज़ें सीख रहे हों, इस काम में बहुत निपुण होते हैं। ज़्यादातर स्कूल और बेलगाम बोलने वाले शिक्षक ही, बच्चों को निष्क्रिय सीखने वाले बनाते हैं।

1967

## जांच का जुल्म (परीक्षण का अत्याचार)

मैं सच्चाई बयान कर रहा हूं। अधिकांश शिक्षक, परीक्षण को शिक्षा का एक अभिन्न अंग मानते हैं। मैं इससे बिल्कुल सहमत नहीं हूं। मेरी राय में परीक्षण न तो ज़रूरी है, न ही उपयोगी और उसे माफ करना मुश्किल है। परीक्षण से फायदा कम, नुकसान ज़्यादा होता है। उससे सीखने की पूरी प्रक्रिया विकृत और भ्रष्ट हो जाती है। परीक्षण करने वालों का मानना है कि जांच की तकनीकों में लगातार सुधार हो रहा है और वो अंत में एकदम दुरुस्त हो जाएंगी। शायद हां, परंतु जांच अच्छी होने के बावजूद भी उसके खिलाफ मेरी आपत्तियां और कठोर

होंगी। हमारी प्रमुख चिंता परीक्षण बेहतर बनाने की नहीं, उसे पूरी तरह हटाने की होनी चाहिए।

कुछ परिस्थितियों में परीक्षण ज़रूरी हो सकता है। अगर कोई संगीतज्ञ संगीत सभा में भाग लेना चाहता है तो उसकी निपुणता जानने के लिए उससे वॉलयन बजाकर दिखाने को कहा जा सकता है। अगर कोई ऐसे लोगों के साथ काम करना चाहता है जो अंग्रेजी नहीं बोलते तो उसे यह प्रत्यक्ष दिखाना पड़ेगा कि वो उन लोगों की भाषा जानता है। अगर वो इमारतों का डिज़ाइन और निर्माण करना चाहता है तो उसे यह साबित करना पड़ेगा कि उसका बनाया ढांचा गिरेगा नहीं। अगर वो सर्जन बनना चाहता है तो उसे कागज़ पर नहीं, आपरेशन टेबिल पर, समर्थ लोगों के समक्ष, कुछ लोगों का ठीक से आपरेशन करके दिखाना होगा।

कुछ इसी प्रकार के परीक्षण लोग अपनी प्रगति मापने के लिए खुद को देते हैं। टाइपिस्ट अभ्यास द्वारा अपनी स्पीड बढ़ाता है। संगीतज्ञ अपने सुरों का अभ्यास करता है और मुश्किल हिस्सों को मेट्रोनोम नामक यंत्र के सामने बजाता है। टेनिस खिलाड़ी, दर्जनों बार सर्विस करके गेंद को सही कोने में फेंकने का अथक प्रयास करता है। हृदय विशेषज्ञ, मेंढकों पर आपरेशन करके, अपनी उंगलियों को तंग स्थानों पर काम के लिए प्रशिक्षित करते हैं। स्केटिंग करने वाले, क्रिकेट के खिलाड़ी सभी अपने कार्य में दक्ष होने के लिए बार-बार अभ्यास करते हैं। पॉयलेट भी विमान को उतारने का बार-बार अभ्यास करता है। समझदार छात्र महत्वपूर्ण जानकारी को फाइल-कार्डों में लगाते हैं जो कि शैक्षिक मशीनों का एक लचीला, प्रभावी और सस्ता विकल्प है। यानी किसी भी इमानदारी के अभ्यास में सीखने वाला, लगातार अपनी कुशलता और ज्ञान का परीक्षण करता है।

परंतु स्कूलों में जिस प्रकार का परीक्षण होता है उसका इस तरीके से कुछ लेना-देना नहीं होता।

छात्रों से अक्सर उन गतिविधियों को दिखाने के लिए नहीं कहा जाता है जिन्हें उन्होंनें अपनी मर्ज़ी से चुना हो। इन क्रियाओं में न तो जान-माल का और न ही किसी संस्था के बरबाद होने खतरा होता है। स्कूलों में परीक्षण एकदम अगल कारणों की वज़ह से होते हैं, और इन कारणों के बारे में हम बहुत इमानदार नहीं हैं। शिक्षक, बच्चों का परीक्षण इसलिए करते हैं जिससे वो यह जान पाएं कि बच्चों ने क्या सीखा है, जिससे वो बच्चों की सीखने में और अधिक मदद कर सकें। वो कम-से-कम खुद से और जनता से तो यही कहते हैं। यह बात पिच्यानवे प्रतिशत गलत है। बच्चों के परीक्षण दो प्रमुख कारणों से किए जाते हैं। पहले, बच्चों को डरा-धमकाकर हम उनसे वो करा पाते हैं जो हम चाहते हैं। दूसरे, हमें बच्चों को पुरुस्कार और सजा बांटने का एक आधार मिलता है जिसकी नींव पर यह पूरा निरंकुश शिक्षा तंत्र खड़ा है। परीक्षाओं के भय से बच्चे अपना गृहकार्य करते हैं और परीक्षाओं में अच्छा करने की वज़ह से ही हम कुछ छात्रों को ईनाम और पुरुस्कार दे पाते हैं। समाज की तरह, स्कूल की अर्थव्यवस्था भी, लालच और भय पर ही चलती है।

यह प्रणाली ज़रूरी हो सकती है और शायद इससे बचना भी मुश्किल हो सकता है। बच्चे क्या सीखें? हमें इसका निर्णय नहीं लेना चाहिए। मेरी तो यही राय है। हमने जो भी पढ़ाने का निर्णय लिया है उसे क्रियांवित करने के लिए बच्चों को उनकी सफलता और असफलता के अनुपात में ईनाम और सज़ा देने की बात भी मुझे अटपटी लगती है। परंतु सच्चाई तो यह है कि सभी स्कूलों में परीक्षण इसीलिए होते हैं। अगर हम सोचते हैं कि परीक्षाएं किसी अन्य कारण से ली जाती हैं तो यह हमारी बेईमानी का द्योतक है।

बहुत से छात्रों और शिक्षकों का यह विश्वास है कि चाहें परीक्षाएं बच्चों को डराती हों फिर भी वे बच्चों के कार्य की गुणवत्ता का एक सही मापदण्ड होती हैं। मुझे लगता है जितना ज़्यादा परीक्षाएं बच्चों को भयभीत करेंगी, वो उनकी सीख को उतना ही कम माप पाएंगी और सीखने को कम प्रोत्साहित कर पाएंगी। इसके कई कारण हैं। जो सबसे स्पष्ट और महत्वपूर्ण है वो हैं - जब किसी छात्र को पता चलता है कि उसे परीक्षा के नतीजों पर आंका जाएगा, तो उसका ध्यान परीक्षा सामग्री से हटकर, परीक्षक की ओर खिंच जाता है। अब छात्र के लिए परीक्षा-पत्र नहीं, परीक्षक महत्वपूर्ण हो जाता है। परीक्षा तब एक खोज नहीं, हाज़िर-जवाबी का खेल बन जाती है। परीक्षक अब एक सहायक नहीं, बल्कि शत्रु बन जाता है।

कुछ वर्ष पहले किताबों की एक दुकान में मुझे मेडिकल छात्रों से सम्बन्धित एक समाजशास्त्री शोध पढ़ने को

मिला। मैं उसे यह जानने के लिए पढ़ने लगा कि मेडिकल छात्र भी क्या उसी भय से डरते हैं जिससे मेरी पांचवी कक्षा के बच्चे डरते हैं। उनका भी वही हाल है इसका मुझे जल्द ही पता चल गया। इस शोध के लेखकों ने बहुत से, अलग-अलग स्तर के, मेडिकल छात्रों का इंटरव्यू लिया था। इन छात्रों ने बार-बार यह बताया कि वे मेडिकल कालेज में आने के बाद, पूरा दिल लगाकर डाक्टरी पढ़ना चाहते थे। परंतु कालेज में उनकी लगातार परीक्षाएं होती रहीं और उन्हें ऐसा लगने लगा कि उनका भविष्य पूरी तरह परीक्षाओं के नतीज़ों पर निर्भित होगा। जल्दी ही वे डाक्टरी की बुनियादी पढ़ाई को छोड़कर, इम्तहान की तैयारियों में लग गए। कुछ समय बाद वो अपने प्रोफेसरों को आंकने लगे और उन पर लेबिल चिपकाने लगे। लेबिल शिक्षकों की कुशलता और ज्ञान पर नहीं, बल्कि उनके 'न्यायसंगत' होने पर आधारित थे। 'न्यायसंगत' प्रोफेसर वो थे जिनकी परीक्षाओं का पूर्व-अनुमान लगाकर, विषय की तैयारी की जा सके।

मुझे परीक्षाएं, फंसाने का एक जाल और परीक्षक एक शत्रु जैसा लगता है। मेरा एक छात्र है जो पुराने अखबारों और पत्रिकाओं में से खुद-करो-और-जांचों वाली पहेलियों को काटकर मुझे उनको हल करने की चुनौती देता है। 'ज़रा देखें, आप कितने होशियार हैं!' या 'देखें, आप इन्हें कितनी तेज़ी से कर पाते हैं!' मुझे अचानक लगता है जैसे किसी ने मुझ पर लड़ाई छेड़ दी हो। जैसे कोई मुझे पागल बना रहा हो। अगर वो छात्र मुझ से उन पहेलियों के कुछ सवाल पूछता - वैसे मैं उसे इसका मौका ही नहीं देता हूं तो मैं, अपने को यह सोचता हुआ पाता, 'इसमें अड़चन कहां है? यह बंदा अखिर चाहता क्या है?' तब मैं शतरंज के खेल की तरह एक व्यक्तिगत द्वंद में फंस जाता।

अगर परीक्षा एक ऐसा खेल हो जिसमें प्रतिद्वंदी आपको मात देने की भरसक कोशिश कर रहा हो तो, उसको हराना ही ठीक होगा। यही बात, नकल की जड़ में है। आज 'अच्छे' स्कूलों में नकल बहुत प्रचलित है और बहुत सारे सफल छात्र भी इसमें माहिर होते हैं। शिक्षक के सामने, नहीं आने पर भी, अपना ज्ञान दिखा पाना और नकल के बीच, कोई खास अंतर नहीं है। जो छात्र घोर दबाव में काम कर रहे हों वे इस अंतर को नज़रंदाज करते हैं। बहुत से शिक्षक भी ऐसा ही करते हैं। अगर शिक्षकों को, उनके छात्रों द्वारा लाए मानक टेस्ट के अंकों के आधार पर आंका जाए तो वे, छात्रों के साथ मिलकर इस शत्रु का, जी-जान से मुकाबला करें। अधिकांश स्कूल और शिक्षक का व्यवहार इस बारे में बिल्कुल अनैतिक होता है। मैंने पांचवी के ऐसे बच्चों को पढ़ाया है जिन्हें पिछली कक्षाओं में अंकगणित में, अच्छे अंक मिले थे परंतु यह बच्चे जोड़-घटाना भी ठीक से नहीं जानते थे। फिर परीक्षाओं में उन्हें अच्छे अंक कैसे मिले? क्या शिक्षकों ने छात्रों को बहुत रट्टा लगवाया? कई बार मुझसे भी रटवाने के लिए कहा गया है। 'बच्चों की समझ में आए या नहीं, उपयोगी है या नहीं, इसको छोड़ो। बस यह देखो कि परीक्षा में बच्चों के अच्छे नम्बर आएं।' क्या यह एक तरह की नकल नहीं है?

क्या परीक्षा का जाल होना ज़रूरी है? किसे ईनाम मिले, और किसे सज़ा, इसे कौन निर्धारित करेगा? चर्चिल ने हैरो के अपने अनुभवों को बहुत साफ शब्दों में कहा था। चर्चिल को क्या आता था, इसे जानने में उसके शिक्षकों की कोई रुचि नहीं थी। उसे क्या नहीं मालूम था, वो सिर्फ यह पता करना चाहते थे। यह बात सामान्यतः सच है। ऐसा नहीं कि सभी शिक्षक शत्रु होते हैं परंतु यह इसी तंत्र की ही मांग है, जहां हमेशा, भेड़-बकरियों को छांटकर अलग किया जाता है। अब ज़रा परीक्षक की कठिनाइयों को लें। जिस छात्र ने विषय को थोड़ा भी पढ़ा हो वो उसके बारे में घंटों तक लिख सकता है। उदाहरण के लिए आठवीं के बाद मैंने अमरीकी इतिहास को छुआ तक नहीं है और मैं उसे लगभग भूल चुका हूं। इस विषय के बारे में मुझे जो कुछ भी मालूम है उसे मैंने इधर-उधर की किताबों में पढ़ा है जिन्हें, इतिहास की पुस्तकें कहना गलत होगा। अगर मुझसे अमरीकी इतिहास के बारे में लिखने के लिए कहा जाए तो मैं बहुत से पन्ने भर डालूंगा, शायद एक पुस्तक या कई पुस्तकें लिख डालूं। आप ही बताएं, भला कोई मेरे ज्ञान को, या किसी इतिहास के छात्र के ज्ञान को, तीन घंटे में कैसे आंक सकता है? यह एक असंभव कार्य है। अगर शिक्षक एक ऐसी परीक्षा देता है जिसमें छात्र अपने ज्ञान को दर्शा सकें, तो जल्द ही समय खत्म हो जाएगा और तभी भी छात्रों का बहुत कुछ लेखन शेष रहेगा। शिक्षक को मूल्यांकन के दौरान, झक मारकर सभी छात्रों को समान अंक देने होंगे। पर यह बात अधिकारियों को नहीं पचेगी। हरेक स्कूल में, बच्चों के बीच अंतर पैदा करना ही, शिक्षक का काम है। क्योंकि हरेक छात्र तो हारवर्ड विश्वविद्यालय जा नहीं सकता,

इसलिए शिक्षक का काम ऐसे प्रश्न पूछना होता है, जिनका कम-से-कम कुछ छात्र तो उत्तर न दे पाएं। बिल्कुल चर्चिल के शिक्षकों की तरह ही उसका काम भी बच्चों की अज्ञानता को बाहर लाना है। अब किसे पुरुस्कार मिले और किसे सज़ा इसका वो 'निष्पक्ष' रूप से यह निर्णय ले सकेगा।

परीक्षाओं के खिलाफ मुझे अन्य आपत्तियां भी हैं। परीक्षाओं से उन छात्रों को ही सज़ा मिलती है जो थोड़ा धीरे काम करते हैं। परीक्षाएं उनका ही साथ देती हैं जो अनुमान लगाने में चतुर होते हैं, जो हिसाब में तेज़ होते हैं। परंतु जो छात्र अपने काम को सावधानी से पूर्ण रूप में करते हैं परीक्षाएं उनके पक्ष में नहीं होतीं। सबसे ज़्यादा नुकसान उन छात्रों का होता है जो परीक्षाओं के बारे में फिक्र करते हैं। भय के कारण ऐसे छात्र, परीक्षाओं में अपने ज्ञान को प्रदर्शित नहीं पाते हैं। और जिसमें वे फेल होते हैं, ऐसा हरेक टेस्ट उनके दिल में अगले टेस्ट के लिए एक बड़ा खौफ पैदा करता है। ऐसे अनगिनत छात्रों के लिए, परीक्षाएं बिल्कुल बेकार होती हैं। ऐसे छात्र परीक्षाओं में पास होने की कोई कोशिश भी नहीं करते। अक्सर वे जानबूझ कर फेल होते हैं, शायद अपने पालकों को दुख पहुंचाने के लिए, या फिर इस जहन्नुमी तंत्र से लड़ने के लिए।

जब हमें लगता है कि वे सही काम कर रही हैं तभी परीक्षाएं सबसे अधिक नुकसान पहुंचाती हैं। मैं अक्सर अपने छात्रों से, परीक्षाओं और मूल्यांकन के बारे में लंबी चर्चाएं करता हूं। उनमें से कई बुद्धिमान और सफल छात्र, प्रतिष्ठित कालेजों में जाने की तैयारी में हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उनमें से बहुत से छात्र इस तंत्र, जिसके खिलाफ वो कभी लड़ते थे, शिकायत करते थे, को बचाने की बात करते हैं। वो गुस्से में उत्तेजित होकर कहते हैं, 'अगर परीक्षाएं नहीं होंगी और हमें नहीं आंका जाएगा तो हमें कैसे पता चलेगा कि हम कुछ सीख रहे हैं या नहीं। हम ठीक कर रहे हैं, या नहीं?' यह सुन कर मुझे बहुत दुख होता है। मुझे उन दो-तीन वर्ष के बालकों की याद आती है जो लगातार अपनी बोली की तुलना, आसपास के लोगों की बातचीत से करते रहते हैं। मुझे वे पांच-छह वर्ष के बच्चे याद आते हैं जिन्होंनें खुद पढ़ना सीखा था, पन्ने के हरेक नए शब्द को खुद समझा था। वो जो भी सीखते उसकी लगातार पिछली बातों से तुलना करते। मुझे वे पांचवी के बच्चे साफ याद हैं जिन्होंने अंकगणित के पर्चे थमाकर मुझसे चिंतित भाव में पूछा था, 'क्या यह ठीक है?'। जब मैं उनसे कहा, 'तुम क्या सोचते हो?' तो वे मेरे तरफ ऐसे घूरने लगे जैसे मैं कोई पागल हूं। उनके सोचने पर क्या इसका कुछ फर्क पड़ा? अक्सर सही बातों का, वास्तविकता और समझदारी से, कुछ लेना-देना नहीं होता। शिक्षक के मुंह से निकली बात ही सही होती है। 'सही' ज्ञात करने का भी एक ही तरीका होता है - उसे शिक्षक से पूछो। स्कूलों में हम बच्चों को उनके के काम को खुद मूल्यांकन करने का मौका ही नहीं देते। इससे बच्चों की निर्णय, और उसमें यकीन करने की, शक्ति ही नष्ट हो जाती है। इस तरह स्कूल बच्चों का बहुत बड़ा नुकसान करते हैं।

अभी तक जो भी मैंने कहा वो एक अनिवार्य प्रणाली की परीक्षाओं पर लागू होता है। परंतु मुक्त प्रणालियों में, जहां छात्रों के साथ कोई ज़बरदस्ती नहीं होती, वहाँ भी परीक्षाओं पर मुझे सख्त आपत्ती है। यह आपत्तियां सोच की प्रकृति, ज्ञान, सीखने और शिक्षा की धारणाओं पर आधारित हैं। आगे की कहानी शायद इस मसले पर कुछ प्रकाश डाले।

सालों पहले मैं एक आंदोलन में सक्रिय था जिसका उद्देश्य एक विश्व-सरकार का निर्माण करना था। एक दिन मुझे एक पुराना मित्र मिला जिसे मैं बहुत समय से नहीं मिला था। उसने पूछा कि मैं आजकल क्या कर रहा हूं। जब मैंने उसे अपने काम के बारे में बताया तो वो मुझसे झगड़ा करने लगा। उसे लगा कि मैं अपना समय बरबाद कर रहा था और एक खराब, नुकसान पहुंचाने वाला काम रहा था। उसका मत था कि विश्व-सरकार की बात करना, संयुक्त राष्ट्र संघ की गरिमा को कम करना और नष्ट करना था। उस समय तक मैं यह सीख चुका था कि पुराने मित्रों के साथ बेकार के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए और मुझे उनके बारे में और जानना चाहिए। मैंने उसे बोलने के लिए प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे, भोजन के दौरान, उसका विश्व दृष्टिकोण मुझे स्पष्ट होने लगा। खाना खत्म होने तक वो चीन को गाली दे रहा था और अमरीका का सबसे बड़ा शत्रु बता रहा था। उसका मत था कि अमरीका को, आणविक शस्त्रों के रहते, चीन पर कब्ज़ा करना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ एक बेकार का और खतरनाक रोड़ा था, जिससे अमरीका को, जल्द-से-जल्द निकल जाना चाहिए था।

दो घंटे से कम समय में ही, मेरे मित्र ने पहले तो यह चिंता व्यक्त की कि मैं, संयुक्त राष्ट्र संघ को कमज़ोर

करने में लगा हूं और फिर संयुक्त राष्ट्र संघ को ही बेकार और खतरनाक करार दे दिया। उसके द्वारा बड़ी इमानदारी और उत्साह से व्यक्त किए परस्पर विरोधी विचार सुनकर, मुझे एक झटका ज़रूर लगा। आजकल ऐसी घटनाएं एक आम बात हैं यह कुछ देर बाद ही मेरी समझ में आया। बुद्धिमान और जानकार लोग अक्सर परस्पर विरोधी विचार रखते हैं। मतगणना कराने वाले लोग यह बात जानते हैं कि, प्रश्न को थोड़ा सा बदल देने से, या उसके संदर्भ में अंतर करने से, काफी भिन्न-भिन्न उत्तर मिलते हैं। वियतनाम युद्ध पर हुई अनेकों मतगणनाओं से लोगों में, कई परस्पर विरोधी मत और विचार होने का पता चला है। कुछ साल पहले तक ऐसा साफ लगता था कि अमरीका में अधिकांश गोरे लोग, नीग्रो लोगों की समानता की मांग का समर्थन करते हैं। परंतु बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हुआ कि, लोगों की ज़िंदगी पर असर पड़ने से वे, उसका सख्ती से विरोध करेंगे। इसका यह मतलब नहीं कि पहले वे झूठ बोल रहे थे। उन्हें इसके असर का तब पता ही नहीं था।

बहुत कम लोगों को ही यह पता होता है। और यही वो प्रमुख और बुनियादी कारण है जिसकी वज़ह से मैं परीक्षणों को शक की निगाह से देखता हूं। हम किसी दूसरे के मस्तिष्क के अंदर के सोच-विचार, कैसे माप सकते हैं जबकि, हमें खुद अपने विचारों का केवल थोड़ा सा अंश ही पता है? मनुष्य का मनोविज्ञान - विचारों और अनुभूतियों का मनोविज्ञान, अभी एक आरम्भिक विज्ञान है। उसके अभ्यासकर्ताओं में, एक-दूसरे से, कई बातों पर भारी मदभेद हैं। परंतु एक बात पर सभी सहमत हैं - कि बहुत सी अहम बातों के बारे में हमें, अभी भी बहुत कुछ जानना है। अपने दिमाग के, छोटे से अंश को भी जान पाना, एक बहुत धीमा, सूक्ष्म, मुश्किल और दुखदायी काम होता है। फिर हम दूसरों के दिमाग की बातों को, निश्चितता से कैसे जान सकते हैं?

कोई अपने पिता के बारे में क्या महसूस करता है शायद इसे पता कर पाना, अगर असंभव नहीं तो, मुश्किल ज़रूर हो सकता है। परंतु वो व्यक्ति ज्यामिति, शेक्सपियर या विद्युत इंजिनियरिंग के बारे में क्या जानता है इसे आसानी से पता किया जा सकता है। इस बात में कुछ सच्चाई है। बहुत से आदमी इंकम-टैक्स के विषय में अपने सोच को, अपने परिवारजनों की तुलना में बेहतर जानते होंगे। और शायद इंकम-टैक्स संबंधी उनके विचार, उनके सच्चे सोच के अधिक करीब होंगे। परंतु यह शायद अल्पकाल के लिए ही सही हो। हमारे दिमाग में शब्दों की लड़ियां होती हैं - नियम, सूक्तियाँ, सिद्धांत आदि जिनसे, हम कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सुखी रहते हैं, परंतु जिनका हमारी वास्तविक ज़िंदगी से कोई लेना-देना नहीं होता है। संक्षिप्त में, जिन बातों को हम रोज़मर्रा की ज़िंदगी में बड़ी ईमानदारी से कहते हैं वो शायद हमारे असली विचारों से बहुत दूर हों।

हो सकता है कि कभी हमारा समाज स्वयं के ज्ञान को ज़्यादा अहमियत दे और सभी लोग दार्शनिक बन जाएं। तब शायद हम खुद के विचारों को, बेहतर समझ पाएं। परंतु फिर भी हमारे लिए अन्य लोगों के, विशेषकर बच्चों के, विचारों को जानना एक बहुत मुश्किल काम होगा। लाईचेस्टर के स्कूली सलाहकार, टोनी कैलेट के एक अप्रकाशित पर्चे का यह अंश, शायद इस मुद्दे पर कुछ प्रकाश डाले:

पियाजे को लागू करने पर कुछ विचार

यहां एक फिल्म की प्रतिलिपि का छोटा सा अंश दिया गया है। फिल्म बताती है कि शिक्षक, कक्षा में बच्चों की गणित की प्रगति को जानने के लिए पियाजे के प्रयोगात्मक तरीकों का कैसे उपयोग कर सकते हैं। यह फिल्म 'बच्चे और गणित' नामक एक श्रृंखला का भाग है जिसे कि, नफील्ड फाउंडेशन ने, बी. बी. सी. के लिए बनाया है। जिस दृश्य की प्रतिलिपि यहां दी गई है उसमें एक वयस्य (बच्चे का नियमित शिक्षक नहीं) और एक छह-सात साल का लड़का है। उनके सामने मेज़ पर तीन ट्यूलिप और छह-सात डेज़ी के फूल पड़े हैं।

वयस्क: फूल ज़्यादा हैं या डेज़ी?

बालक: डेज़ी अधिक हैं?

व: डेज़ी अधिक हैं। अच्छा। मुझे अचरज हो रहा है कि कहीं, फूल जो ज़्यादा नहीं हैं क्योंकि डेज़ी भी तो फूल ही हैं। क्यों, यह ठीक है न?

ब: हां।

व: और ट्यूलिप भी तो फूलों का ही एक भाग हैं?

ब: . . . (बच्चा कोई उत्तर नहीं देता है)

व: क्या यह ठीक है?

ब: हां।

व: तो फिर ये सभी-के-सभी फूल ही हैं। मुझे लगता है कि ये सभी फूल हैं परंतु (इंगित करता है) केवल यही डेज़ी हैं। इसलिए मुझे लगता है कि डेज़ी की तुलना में, फूल ज़्यादा हैं।

ब: . . . . . .

व: अच्छा, क्या यह सब ठीक-ठाक लगता है?

ब: . . . . . . (काफी देर रुकने के बाद) नहीं।

व: (दबी हुई हंसी के साथ) क्या फूल ज़्यादा हैं या डेज़ी?

ब: डेज़ी ज़्यादा हैं।

व: डेज़ी ज़्यादा हैं।

टीकाकार: भला कौन इसकी कल्पना करेगा कि किसी बच्चे की दुनिया का नज़रिया ऐसा हो सकता है।

भला कौन?

मेरी राय में जिस प्रयोगात्मक स्थिति का यहां जिक्र है वो बच्चे द्वारा सोचे गए कम-ज़्यादा, भाग-सम्पूर्ण के रिश्तों पर उतना प्रकाश नहीं डालती। यहां पर बच्चा अपनी इच्छा के खिलाफ किसी वयस्क के साथ संवाद करने को मज़बूर है। उस विषय के नियम दोनों को पता हैं। बच्चे को सिर्फ यह पता करना है कि वयस्क उससे क्या उत्तर चाहता है और वयस्क का काम है कि वो इस कार्य को, बच्चे के लिए सरल बनाए।

यहां जो सबूत पेश किए गए हैं उनसे बच्चे की भाग-सम्पूर्ण के रिश्ते की समझ के बारे में, कुछ भी कह पाना कठिन है। इस बारे में उसकी समझ कमज़ोर हो सकती है। परंतु मैं आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूं कि अगर कम-ज़्यादा, भाग-सम्पूर्ण के रिश्तों को, किसी अर्थपूर्ण स्थिति में, ठोस चीज़ों के सहारे किया गया होता तो बच्चा इन, अमूर्त निरर्थक शब्दों की तुलना में, उसमें कहीं अधिक समझ दिखाता। जिस स्थिति को हमने अभी देखा उसमें तो बच्चा अपने सामने रखी चीज़ों के बारे में, सोचने के लिए भी स्वतंत्र नहीं था।

मेरी टिप्पणियों की तुलना में, मिस्टर कालेट की टिप्पणियां शायद अधिक संतुलित होंगी। मुझे बच्चे और वयस्क के बीच का यह इंटरव्यू, एकदम अन्यायपूर्ण और खौफनाक लगा। मनोविज्ञान के इस नए शोध का खूब प्रचार-प्रसार किया गया। यह शर्म की बात है कि, किसी ने इसका कोई विरोध नहीं किया परंतु इसे स्वीकारा।

मिस्टर कैलेट आगे कहते हैं:

मैंने पिछले कई सालों में वयस्कों और बालकों से यह पूछा है कि उनके परिवार में कितने अन्य बच्चे या लोग हैं। इससे कई रोचक बातें निकली हैं। नीचे एक संवाद दिया है:

मैं: तुम्हारे परिवार में कितने बच्चे हैं?

बालक: तीन।

मैं: उनमें बड़े कितने हैं?

बालक: दो:

मैं: क्या बच्चे लोग होते हैं?

बालक: हां (नौ-दस के बच्चे अक्सर, इस प्रश्न पर आकर रुकते हैं, और सोचते हैं।)

मैं: अब बताओ, तुम्हारे परिवार में बच्चे ज़्यादा हैं कि, लोग ज़्यादा हैं?

बालक: बच्चे ज़्यादा हैं।

कुछ वैकल्पिक उत्तर इस प्रकार के हैं: (1) क्या? आप यह नहीं पूछ सकते: (2) हां, ज़्यादा बच्चे ही होने चाहिए; (3) हूं? आपका मतलब क्या है? मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि जिन बीस बच्चों से मैंने यह प्रश्न पूछे, उनमें से बारह वर्ष से कम के केवल एक-दो बच्चों ने ही इनका सही उत्तर दे पाए। कई बुद्धिमान वयस्कों ने भी मुझे इसी प्रकार के जवाब दिए। अगर मेरा प्रश्न होता, 'क्या ज़्यादा बच्चे हैं या ज़्यादा वयस्क?' तब शायद मुझे ठीक उत्तर मिलते।

जब मैंने पहली बार पियाजे के, भाग–सम्पूर्ण संबंधी प्रयोगों को पढ़ा तो मुझे लगा कि, चाहें बच्चों से कुछ भी कहा जाए वे हमेशा, समूह (मोती, फूल या और कुछ भी) के एक भाग की तुलना, दूसरे बचे हिस्से से करते हैं। ऐसी तुलना करने की उनकी आदत थी, और इसी तरीके में उन्हें कुछ मतलब दिखाई पड़ता था। बच्चों के साथ कुछ प्रयोगों ने इस बात की पुष्टि भी की। दोनों समूहों में, जो भी बड़ा होता, बच्चे उसे ही ज़्यादा बताते। क्योंकि कुछ वयस्कों ने भी मिस्टर कैलेट को 'गलत' उत्तर दिया इससे लगता है उन्होंनें भी, बच्चों जैसे ही प्रश्न को समझा होगा। मुझे लगता है कि अगर शुरू में बच्चा, डेज़ी–फूल या बच्चों–वयस्कों वाले प्रश्न, अपेक्षा के अनुसार समझ भी गया होता तो भी उसे वो प्रश्न, एकदम ऊट–पटांग लगते। अगर कोई अचानक ही मुझसे यह पूछ बैठता कि मेरे परिवार में मर्द ज़्यादा हैं या लोग तो सम्भवत: मैं निम्न उत्तर देता (1) कृपा अपने प्रश्न को दोहराएं। (2) कहीं आप मज़ाक तो नहीं कर रहे हैं? (3) आपका मतलब क्या है? मैं कभी उम्मीद भी नहीं कर सकता कि कोई प्रश्नकर्ता मुझसे, इस बेवकूफी के सवाल का, कोई गम्भीर उत्तर चाहेगा।

अब मैं आपको एक वैकल्पिक प्रयोग सुझाता हूं। मान लें हमारे पास दो फोटोग्राफ्स हैं – एक में परिवार के केवल बच्चे हैं और दूसरे में, परिवार के सभी सदस्य हैं – बच्चे और वयस्क दोनों। अब हम बच्चों से पूछें कि किस फोटो में ज़्यादा लोग हैं। क्या चार वर्ष से बड़ा, कोई भी बच्चा, इसका गलत जवाब देगा? फिर भाग–सम्पूर्ण के मसले पर इतनी उलझन क्यों? मेरी राय में यह उलझन, मूलत: शाब्दिक है। बच्चे कुछ शब्द–लड़ियों को, वैसा नहीं समझते जैसा हम चाहते हैं कि वो समझें।

इसलिए हम, अपने विचारों को जानते हुए भी, परीक्षण के दौरान गल्तियां अवश्य करते। इन गल्तियों के दो कारण हैं। पहली तो भाषा की सीमा से पैदा होती। प्रश्नकर्ता जो पूछना चाहता था उसे वो सही शब्दों में रख पाने में, खुद को असमर्थ पाता। और उत्तर देने वाला भी, अपने जवाब को, सही शब्दों में व्यक्त कर पाने में असमर्थ महसूस करता है। दूसरे, प्रश्न पूछने के दौरान हमेशा ही कोई मूल्यांकन होता है, जिसका असर दोनों पार्टियों के विचारों और शब्दों पर होता है। जवाब देने वाले को यह समझ में नहीं आता कि, प्रश्नकर्ता कौन सा जवाब चाहता है, और वो उसे दे या न दे। इससे भागा नहीं जा सकता है। अगर मुझसे कोई प्रश्न पूछता है तो, पहला सवाल जो मेरे ज़हन में आता है कि, 'वो मुझसे यह प्रश्न क्यों पूछ रहा है?' वो आखिर मुझसे क्या चाहता है – इस पर ही, मेरा जवाब निर्भर करेगा। जोज़ेफ कौनरॉड के उपन्याय ***विक्टोरी*** में हेयिस्ट और लेना के बीच के दुखद वार्तालाप से एक बात साफ हो जाती है। उलझन और शक भरे शब्दों के उपयोग के बावजूद, दो प्रेमियों के बीच संवाद बंद हो जाता है। ऐसे दुखदायी अनुभव से, बहुत से लोग परिचित होंगे।

मुझे दूसरी के उस छात्र की याद आ रही है जो बुद्धिमान, परेशान, विद्रोही था और न जाने क्यों अपने माता–पिता से बेहद नाराज़ था। मैं उसे, उसकी मर्ज़ी के खिलाफ, पढ़ना सिखाने की कोशिश कर रहा था जिसमें मैं पूर्णत: असफल था। एक दिन हमारे स्कूल की मनोवैज्ञानिक – एक समझदार और संवेदनशील महिला ने उसे बुद्धि परीक्षण का, स्टैनफोर्ड–बिनेट टेस्ट दिया। कुछ देर बाद मेरी उनसे, उस छात्र के बारे में चर्चा हुई। महिला ने कहा, 'क्या आपको इस छात्र के बिनेट टेस्ट के बारे में एक रोचक बात पता है? उसने निचले स्तर के प्रश्नों की तुलना में, उच्च स्तर के कहीं अधिक प्रश्नों का उत्तर दिया है।' काफी देर चर्चा के बाद हमें लगा कि वो छात्र शायद सादे प्रश्नों का सरल उत्तर देने से डर रहा था। उसे भय था कि कहीं परीक्षक, उसके साथ कोई खेल तो नहीं खेल रहा था। कई सरल प्रश्नों पर मनन करते हुए, मैंने भी ऐसा ही महसूस किया था – 'सवाल इतना आसान तो नहीं हो सकता, नहीं तो भला वो मुझसे पूछते ही क्यों।'

मैं एक बार दुबारा, मिस्टर कैलेट की ओर वापिस चलता हूँ:

... फ्रोएबिल इंस्टिट्यूट की जोन टैम्बूरनी ने मुझे पिछले वर्ष अपने एक छात्र के बारे में बताया जो पियाजे के समूहीकरण के प्रयोगों को दुबारा करने का प्रयास कर रहा था। प्रयोग में बच्चे को कारों, लोगों, बर्तनों, गहनों आदि के छोटे–छोटे मॉडल दिए जाते हैं। फिर बच्चे को, समान चीज़ों को अलग–अलग समूहों में रखना होता है। अक्सर छोटे बच्चे इन समूहों को, किसी सतही प्रणाली के आधार पर बनाते हैं। उदाहरण के लिए वो एक कार को प्लेट में इसलिए रखते हैं क्योंकि, वो कुछ दिन पहले, पिकनिक मनाने गए थे। गतिविधि के अंत में, टैम्बूरनी के छात्र ने बच्चों से सभी मॉडलों को वापिस डिब्बे में रखने के लिए कहा। इस बार बच्चों ने बड़ी आसानी और सहजता से

सभी टुकड़ों को, उनके सही समूहों में रखा – सारी कारें एक-साथ, बर्तन एक-साथ आदि। इससे बच्चों के समूहीकरण की क्षमता के बारे में हम क्या अंदाज़ लगाएं? इसका परिणाम एकदम स्पष्ट है। जब बच्चों को कुछ चीज़ें के लिए दी जाएंगी तो बच्चे उनसे खेलेंगे, और उस खेल के अपने खास नियम होंगे। और जब इन बच्चों से सफाई करने को कहा जाएगा तो वे बड़ों के 'तर्क' के अनुसार उनका समूहीकरण करेंगे। क्या बच्चों में समान और असमान वस्तुओं को अलग-अलग करने की क्षमता होती है, या नहीं? यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें क्या काम दिया गया है।

हां, बिल्कुल सही। और यही प्रत्येक परीक्षक की अंतिम और अनिवार्य समस्या होती है। वो एक निश्चित उत्तर चाहता है। वो उसके बारे में कैसे पूछे? अगर वो अपने सवाल को बहुत स्पष्टता से पूछता है तो, प्रश्न के साथ-साथ उसे, उत्तर देने का डर भी रहता है। मेरे पांचवीं के बच्चे, सब बच्चों की तरह ही, शिक्षक से ऐसे बेबाक प्रश्न पूछने में माहिर थे जिनमें, उत्तर भी, पूंछ की तरह लटका हो। अगर शिक्षक प्रश्न को स्पष्ट तरीके से नहीं पूछता है तो लोगों द्वारा, प्रश्न को गलत समझने का डर रहता है। सबसे खराब बात है कि शिक्षक को अक्सर इस गलती का पता ही नहीं होता है। और वो, तमाम शिक्षाविदों और मनोवैज्ञानिकों जैसे ही, इन गलत उत्तरों के आधार पर किसी सन्दिग्ध परिणाम पर पहुंच सकता है।

मैं दुबारा उसी बात को दोहराता हूं। अगर हम टेलीपेथी नहीं जानते, तो किसी दूसरे के दिमाग में क्या चल रहा है उसके केवल एक छोटे से अंश का हम अंदाज़ भर लगा सकते हैं। पर इससे हमें क्या तकलीफ है? शायद कोई नहीं। हम अपनी उत्तेजना और असुरक्षा से बचने के कारण ही यह लगातार जानना चाहते हैं कि बच्चे क्या सीख रहे हैं और उसे क्यों सीख रहे हैं। दरअसल सच्ची शिक्षा हमसे, विश्वास और हिम्मत चाहती है। विश्वास, इस धारणा में कि, बच्चे इस दुनिया को खुद समझने के लिए तत्पर हैं और उसके लिए वो खुद कड़ी मेहनत करते हैं। इस काम को हमें, बिना किसी दखल के, बच्चों को करने देना चाहिए। और इसके लिए हिम्मत चाहिए।

1968

## सुनहरे दिनों वाले नियम ढले

स्कूलों में अनिवार्य हाज़िरी के नियम, अच्छी शिक्षा में एक बड़ी अड़चन है। इनमें लचीलेपन और सुधार की ज़रूरत है। ऐसे नियमों को उखाड़ फेंकने, और कोर्ट-कचहरी में चुनौती देने की ज़रूरत है।

कभी यह मुझे बच्चों के हक में लगता था। परंतु अब मुझे यह स्कूलों के हक में भी लगने लगा है। अब इस बात का समय आ गया है कि हमारे स्कूल जेल के धंधे से बाहर निकलें। वैसे स्कूल जेल का धंधा करते हैं इस बात पर कोई जल्दी विश्वास नहीं करेगा। आम जनता ने ही तो हमारे स्कूलों से कहा है, 'साल में एक सौ अस्सी दिन, रोज़ाना हमारे बच्चों को छह या उससे ज़्यादा घंटों के लिए जेल में बंद रखो, जिससे कि वो हमारी निगाहों के सामने से और किसी मुसीबत से दूर रहें। और जेल के इन घंटों के दौरान तुम हमारे बच्चों को पढ़ाओ।' दोनों मांगे परस्पर-विरोधी हैं और एक-दूसरे को रद्द करती हैं। स्कूल या तो जेल के धंधे में हो सकते हैं या फिर पढ़ाई के, दोनों में नहीं। और स्कूलों का एक धंधा जितना ज़्यादा होगा, दूसरा अपने आप ही उतना कम होगा।

जेल का धंधा बंद करने से स्कूलों का बहुत फायदा होगा। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो सीधा पैसों को लेकर है। बैल्टीमोर, मेरीलैन्ड के सहायक स्कूल सुपरिनटेंडेन्ट के अनुसार उन्हें हर वर्ष करोड़ों डालर उपद्रवियों द्वारा तोड़ें कांच के शीशों, फर्नीचर आदि की मरम्मत पर खर्च करने पड़ते हैं। कौन तोड़ता है उन खिड़कियों को? यह सारा नुकसान कौन करता है? ऐसे बच्चे जो स्कूल में नहीं पढ़ना चाहते और इसीलिए वो अपने स्कूल से नफरत करते हैं। तोड़-फोड़ की क्रियाओं द्वारा बच्चे, अपना बदला लेते हैं। अगर इस घृणा के मूल कारण को हटा दिया जाए तो फिर बदला लेने की आवश्यकता और यह तोड़-फोड़ अपने आप खत्म हो जाएगी। नवयुवक बहुत कम ही बैंकों, होटलों और दवा की दुकानों पर पथराव करते हैं। वे स्कूलों से घृणा करते हैं और इसीलिए वे स्कूलों को ही नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। एक बार मैंने महानगर के एक बहुत बुद्धिमान नवयुवक को बड़ी गंभीरता से यह कहते हुए सुना कि उसके इलाके के सभी स्कूलों को जला दिया जाना चाहिए।

उन बच्चों पर जो वहां नहीं पढ़ना चाहते स्कूलों को, कितना समय, साधन और धन खर्च करना पड़ता है। इसका अनुमान लगाना बेहद कठिन होगा। अनगिनत विशेष स्कूल, विशेष कक्षाएं, विशेष लोग, विशेष नियम-कानून, विशेष सलाह कार्यक्रम आदि - सभी के होने का केवल एक ही कारण है - ऐसे बच्चे जो स्कूलों से घृणा करते हैं और वहां नहीं जाना चाहते हैं। शिक्षकों को इन शैतान कैदियों को नियन्त्रण में रखने के लिए कितनी अधिक ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है शायद इसका भी अनुमान लगाना मुश्किल हो।

यह जेल का धंधा एक और मायने में भी बहुत मंहगा है। क्योंकि हमारे बच्चों को रोज़, कुछ घंटों के लिए जेल में रखने का काम स्कूलों को सौंपा गया है इसलिए उन्हें यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि कैदी जेल में रहें। अगर वे जेल में नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं और कहां गए हैं इसका पता रखना पड़ता है। इस काम को करने में शिक्षक और स्कूल प्रबंधक न जाने कितना ज़्यादा कागज़ व्यर्थ करते हैं। हाज़िरी के जितने भी मोटे-मोटे रजिस्टर और रिकार्ड होते हैं सभी का मात्र एक उद्देश्य होता है - यह सिद्ध करना कि सभी कैदी जेल में मौजूद थे और अगर नहीं थे तो उसका कोई कानूनी कारण था। अगर अनिवार्य उपस्थिति के नियमों को हटा दिया जाए तो इन सब की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

मुझे बॉस्टन पब्लिक लाइब्रेरी में अलग-अलग पृष्ठभूमियों के छात्र मिलते हैं। वो काफी कायदे और समझदारी से मिलते-जुलते हैं। कभी भी किसी ने उनके व्यवहार को समस्यामूलक नहीं बताया है। क्यों नहीं? पहले, क्योंकि अगर आप किसी ऐसी जगह पर होते हैं जहां आप होना चाहते हैं तो आप कायदे से व्यवहार करते हैं। दूसरे, छात्रों को यह भी पता होता है कि अगर वो वहां शोर मचाएंगे तो उन्हें दुबारा पुस्तकालय में घुसने नहीं दिया जाएगा। अब और कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं बचती। क्लास-मॉनीटरों, जासूसों और सशस्त्र पुलिस का जो पहरा स्कूलों में पाया जाता है वो तो शहर के, सबसे खूंखार इलाके के पुस्तकालय में भी नहीं मिलेगा। वहां उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं होगी। अगर स्कूल लोगों की एक ज़रूरतमंद संस्था बने हो तो वहाँ पर इस प्रकार की पुलिस की कोई ज़रूरत नहीं होगी।

परंतु इस जेल के धंधे से सबसे अधिक हानि कक्षा के अंदर होती है। उससे शिक्षक और छात्रों के बीच के संबंध एकदम भ्रष्ट हो जाते हैं। शिक्षक एक काम करवाने वाला मेठ और पुलिसमैन बन जाता है। हो सकता है कि शिक्षक को पाठ पसंद हो और वो उसे बच्चों तक पहुंचाना चाहता हो। परंतु उसके बाद भी वो मूल रूप से अलग-अलग तरीके अपनाकर बच्चों को भयभीत और मज़बूर करेगा। इससे कक्षा एक लड़ाई के मैदान में बदल जाएगी। नई शैक्षिक तकनीकें और उपकरण इसके मूल स्वरूप को नहीं बदल पाएंगी। इसके नतीजे़ साफ नज़र आते हैं। जो अच्छे लोग, बड़ी उम्मीदें लगाकर पढ़ाने के क्षेत्र में आते हैं वो धीरे-धीरे करके अपने आपको एक पुलिसवाला समझने लगते हैं और बच्चों को अपना जानी दुश्मन। समय के साथ वो बच्चों की मदद करने और पढ़ाने की बात भूल जाते हैं उल्टे बच्चों से नफरत करने लगते हैं। इसमें उन शिक्षकों की गलती नहीं है। और विशेष प्रकार के प्रशिक्षण और विशेष लोगो के चयन से इसे बदला नहीं जा सकता है। अब छात्रों और शिक्षकों के बीच परस्पर सहयोग के सम्बन्ध बनना उतने ही मुश्किल हैं जितने कैदियों और हवलदार के बीच। दोनों के कारण भी एक-समान हैं। दूसरी ओर, अगर अनिवार्य उपस्थिति को समाप्त कर दिया जाए तो ये रिश्ते एकदम बदल जाएंगे। क्योंकि अब शिक्षक जेलर नहीं होगा इसलिए वो बच्चों का दुश्मन भी नहीं होगा।

मैंने यह सिद्ध करने के लिए कई कारण दिए हैं कि अनिवार्य उपस्थिति स्कूलों के हक में नहीं है। परन्तु मैं उसका विरोध इसलिए करता हूं क्योंकि वो बच्चों के लिए गलत और हानिकारक है। मुझे बहुत से 'अच्छे' स्कूलों के पालकों से चर्चा का मौका मिला है। मुझे ऐसी अनेकों कहानियाँ सुनने को मिली हैं जहां पर स्कूलों ने, या कक्षा के शिक्षकों ने, बच्चों को चोट और हानि पहुंचाई है और कुछ को अपंग बना दिया है। इस सबसे मुझे लगता है कि अनिवार्य उपस्थिति के कानून बच्चों के और उनके पालकों के मौलिक अधिकारों का हनन करते हैं और इसलिए उन्हें चुनौती दी जानी चाहिए।

मुझे पता है कि समय-समय पर पालकों ने अनिवार्य उपस्थिति के कानूनों को चुनौती दी है परंतु उन्हें इसमें असफलता ही मिली है। पर उन चुनौतियों का आधार कुछ अलग था। उनमें पालकों द्वारा घर में बच्चों को पढ़ाने की अथाह संभावनाएं सुझाई गई थीं परन्तु स्कूल द्वारा की गई हानि पर इतना ज़ोर नहीं था। संभ्रान्त लोगों के इस

तर्क को स्कूलों ने एक करारा जवाब भी दिया था। स्कूलों में तमाम संसाधन तो होते ही हैं साथ में वहां आकर बच्चे अपनी उम्र के बहुत से अन्य बच्चों से मिल सकते हैं। यह मौका उन्हें घर में रहकर नहीं मिलेगा। इसीलिए अभी तक न्यायालयों ने स्कूलों के बेहतर तर्क को ही माना है। परंतु मेरी चुनौती इससे अलग है। मेरी राय में अगर स्कूल बच्चों की मदद करने की स्थिति में हों तभी वे बच्चों की अनिवार्य उपस्थिति की मांग कर सकते हैं। और स्कूल वाकई में बच्चों की मदद कर रहे हैं इसे प्रत्यक्ष दिखाना स्कूलों का काम होगा। पर जहां स्कूलों का, बच्चों पर गलत असर पड़ रहा है वहाँ स्कूलों द्वारा बच्चों की अनिवार्य उपस्थिति की मांग नाजायज़ होगी। संक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि स्कूल कोई फौज़ नहीं है। यह स्कूलों का ऐतिहासिक और कानूनी औचित्य है कि वे सभी बच्चों के लिए अच्छे हों और हरेक बच्चे के लिए सहायक हों। छह बरस के सभी बच्चों को ज़बरदस्ती फौज़ में भेजना का निर्णय हमने अभी नहीं लिया है।

जब सबसे पहले अनिवार्य उपस्थिति के नियम-कानून बने तो वे मानव अधिकारों के विरोधी नहीं, उनके हक में थे। वे कानून बच्चों के हक में भी थे। वे बच्चों को शिक्षा प्रदान करवाते और उन्हें आर्थिक शोषण करने वाले वयस्कों से बचाते थे। अमरीका में बहुत से किसान, छोटे दुकानदार और कारीगर जिन्हें खुद औपचारिक शिक्षा का मौका नहीं मिला था अपने बच्चों को भी खदान, कारखानों और खेतों को काम करवाना पसन्द करते थे। इस प्रकार के शोषण के विरोध में कानून बने। परंतु समय और तरीके बदले हैं। जिन परिस्थितियों को ठीक करने के लिए वो नियम बने थे वे अब मौजूद नहीं हैं। अब छोटे बच्चों के श्रम के लिए बाज़ार ही नहीं है। आज आर्थिक कारणों से बहुत कम पालक ही अपने बच्चों को स्कूल की बजाए घर पर रखना चाहेंगे। पर सच्चाई यह है कि आज स्कूल ही बच्चों को नष्ट कर रहे हैं और उनके सबसे बड़े शोषक हैं।

इसमें कानून क्या कर सकता है? कानून को स्पष्ट रूप से एक बात कहनी चाहिए। अगर बच्चों और उनके पालकों की राय में स्कूल फायदा न पहुंचाकर उल्टे बच्चों का नुकसान कर रहे हैं तो बच्चों को स्कूल जाने, या न जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पालकों को इसके लिए कोई सबूत देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि वे बच्चों को, पढ़ाई की सुविधाएं या अन्य बच्चों का साथ उपलब्ध करा पा रहे हैं या नहीं। अगर बिली स्मिथ स्कूल से नफरत करता है और उसके पालकों को उसका यह मानना सही लगता है तो अदालतों से उन्हें इसके लिए राहत मिलनी चाहिए। स्कूल की खराब शिक्षा की तुलना में वे बच्चे को एक अच्छी शिक्षा दे सकते हैं इसका सबूत पेश करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। न्याय का यह एक बुनियादी सिद्धांत है कि अगर हमें किसी चीज़ के गलत होने का पता हो तो उसे विकल्प खोजने के दौरान गलत बात बंद होनी चाहिए।

मैं ऐसे बहुत से बच्चों को जानता हूं जो स्कूल से घृणा करते हैं और उन्हें असहनीय मानते हैं। अगर बच्चों की स्कूल में उपस्थिति अनिवार्य न हो तो हो सकता है कि यह बच्चे स्कूल को थोड़ा अधिक सहनीय और रोचक समझने लगें। जो बच्चे स्कूलों से बहुत अधिक घृणा करते हैं वो भी शायद वहां कभी-कभी जाना चाहें। उसका कारण है कि बच्चों के स्कूलों में मित्र होते हैं और स्कूलों में बहुत कुछ होता है। जो बच्चे पांच दिनों तक स्कूल को नहीं सह पाते वो शायद दो-तीन दिनों के लिए वहां पर जाना चाहें और इस अल्पकाल में ही पांच दिनों की तुलना में बेहतर शिक्षा और संतोष पाएं।

जो लोग स्कूलों के बारे में कुछ जानते हैं - और इसमें सभी छात्र शामिल हैं, वो इस बात को पहचानते हैं कि बच्चे अपनी बुद्धि और ऊर्जा का उपयोग कर, स्कूल का पँच दिन लंबा पाठ्यक्रम, दो दिनों में ही पूरा कर सकते हैं। अगर कानून बच्चों को, स्कूल जाने, या न जाने की स्वतंत्रता देता है तो वे स्कूल से बचे समय में ऐसे बहुत से रोचक और गंभीर कार्य कर सकते हैं, जिनके लिए अभी उन्हें समय नहीं मिलता है। यह बात गौरतलब है कि जो ग्यारह वर्षीय, रूमानिया की लड़की, 1967 के ग्रेनोबिल ओलंपिक्स की स्केटिंग प्रतिस्पर्धा में सबकी चहेती थी उसने अपनी संपूर्ण शिक्षा घर पर ही प्राप्त की थी। यह कितनी रोचक बात है कि एक साम्यवादी देश कम-से-कम, अपने एक बच्चे को, सीखने की वो स्वतंत्रता देता है जो अमरीका जैसा स्वतंत्र देश अपने बच्चों को नहीं देता।

मेरे प्रस्ताव से कई मुश्किल प्रश्न खड़े होंगे जिनका उत्तर मेरे पास नहीं होगा। ऐसी स्थिति में क्या होगा जब

बच्चों और पालकों में स्कूल द्वारा की जा रही हानि को लेकर ही मतभेद हो? मेरी राय में अगर बच्चा स्कूल जाना चाहता है और उसके पालक मना करते हैं तो बच्चे की ही बात मानी जानी चाहिए। पर अगर स्थिति इसकी बिल्कुल उल्टी हो तो प्रश्न और कठिन हो जाएगा, परंतु मैं बच्चे की मंशा को प्राथमिकता दूंगा। यह उस सामान्य और सबके द्वारा स्वीकृत मान्यता के खिलाफ है जिसके अनुसार माता-पिता को ही बच्चे की ज़िंदगी का निर्देशक माना जाता है। इस मसले पर मेरी एडगर फ्राइडिनबर्ग से पूरी तरह सहमत हूं कि बच्चों के कुछ खुद अपने अधिकार होने चाहिए जिन्हें कोई और छीन न सके। इसमें खुद की ज़िंदगी को खत्म करने का अधिकार शामिल नहीं होना चाहिए (मैंने 'ज़िंदगी को खत्म' करने की बात इसलिए की क्योंकि देश के कुछ राज्यों में स्कूल, बच्चे को मारते-पीटते समय, बच्चे की जान तक ले सकते हैं, और उन्हें कोई कानूनी सज़ा नहीं होगी।)

इस समय शायद कोई भी राज्य अपने कानूनों में, स्कूल हाज़िरी में सुधार लाने के लिए तैयार नहीं होगा। मुझे लगता है कि अधिकांश पालकों को स्कूल का रोल पसंद आता है। स्कूल बच्चों को संभालते हैं और एक जेल का काम करते हैं। इसी लिए अनिवार्य उपस्थिति के नियमों को बदलने के समय पालक उसका ज़बरदस्त विरोध करेंगे। इसीलिए उन्हें बच्चों की मुक्ति की दलील देते हुए न्यायालयों में चुनौती दी जानी चाहिए।

मेरा यह कहना नहीं है कि जब तक न्यायालय इसके बारे में कुछ नहीं करेंगे तब तक कुछ हो ही नहीं सकता है। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा: एक प्रसिद्ध प्राथमिक स्कूल में जाने वाली नौ बरस की बच्ची एक दिन घर रोती हुई वापिस आई। शुरू दिन से ही वो बच्ची अपने स्कूल में एक 'माडल' छात्रा थी। उस दिन उसकी कक्षा में नियमित शिक्षका की बजाए कोई अन्य शिक्षका आई। बच्ची ने दिया हुआ काम खत्म किया और फिर खाली समय में कागज़ पर एक खरगोश का चित्र बनाने लगी। शिक्षका चुपके से बच्ची के पीछे जाकर खड़ी हुई। उसने चित्र को देखा और बिना किसी चेतावनी के बच्ची के हाथ से कागज़ और पेंसिल को खींच लिया। उसने कागज़ को मरोड़ा और पेंसिल के साथ दीवार के पास फेंक दिया। फिर शिक्षका ने ऊंची आवाज़ में कहा, 'अगर मैंने तुम्हें दुबारा कक्षा में चित्र बनाते हुए पकड़ा तो फिर मैं तुमसे हाथ दर्द करने तक यह लिखने को कहूंगी ***मैं कक्षा में कभी चित्र नहीं बनाउंगी***' स्कूल के बाद जब बच्ची की मां को इस घटना के बारे में पता चला तो वो बहुत गुस्सा हुई। उसने प्रधानाचार्य को फोन पर सारी बात बताई और कहा कि अगर प्रधानाचार्य के लिए उस शिक्षिका को शायद हटाना मुश्किल हो तो जब तक वो शिक्षका कक्षा में रहेगी तब तक वो अपनी बच्ची को स्कूल नहीं भेजेगी। प्रधानाचार्य ने बच्ची की गैरहाज़िरी पर कोई ध्यान नहीं दिया जो मेरी राय में एक समझदारी का निर्णय था। दूसरे शब्दों में इससे पहले कि न्यायालय स्कूल में उपस्थिति के नियमों को भंग करें उनका विरोध करने से कुछ लाभ अवश्य होगा।

1968

बच्चों में पढ़ने के प्रति नफरत पैदा करना

जब मैं कोलोरैडो रौकी माउंटेन स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाता था तो मैं छात्रों से उनके गृहकार्य के बारे में, वही प्रश्न पूछता था जो सामान्यत: अंग्रेजी पढ़ाने वाले शिक्षक पूछते हैं - ऐसे प्रश्न जिनसे छात्र, मेरे द्वारा चुने गए बिंदुओं को समझें। छात्र अपनी ओर से मुझे इशारों से मुझसे संकेत निकलवाने का प्रयास करते। हम एक प्रकार का खेल खेलते। छात्रों के पुस्तक सम्बन्धी विचारों को मैं कभी भी जानने की कोशिश नहीं करता।

मैं छात्रों को शब्दों की कवायद करता और उन्हें छोटे टेस्ट देता। मैं छात्रों से कहता कि जब कभी उन्हें कोई नया शब्द नज़र तो उन्हें तुरंत शब्दकोश में उसका अर्थ देखना चाहिए। मैंने उनके लिए शब्दों के कुछ विशेष टेस्ट बनाए थे जिसमें छात्र शब्दों के उपयोग को समझने के लिए अपनी पुस्तकों की सहायता ले सकते थे। परंतु अब, जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं तो मुझे अपने द्वारा बनाए टेस्ट और तरीकों की बेवकूफी का पता चलता है।

मेरी बहन ने सबसे पहले मुझे अंग्रेजी पढ़ाने के पारम्परिक तरीकों की सीमाओं के बारे में सोचने के लिए बाध्य किया। उनका बेटा सातवीं कक्षा में था और एक अच्छे पब्लिक स्कूल में पढ़ता था। शिक्षक ने उससे कूपर की पुस्तक ***द डियरस्लेयर*** पढ़ने को कहा। किताब का चयन ही गलत था क्योंकि उसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों का वर्णन काफी सतही, अशुद्ध और भावनात्मक था। वैसे भी कूपर की शैली और भाषा काफी कठिन थी। सबसे

खराब बात थी कि शिक्षक बच्चों से इस पुस्तक का अतिसूक्ष्म अध्ययन करवा रहा था। शिक्षक बच्चों से परिभाषाएं रटवा रहा था और प्रत्येक कठिन शब्द का उद्‌गम खोजने को कह रहा था। यह एक कठिन काम था। हरेक अध्याय के बाद प्रश्न पूछे जाते थे जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि बच्चों का 'पाठ' समझ में आया है।

उस समय परम्परावादी होने के नाते मैं अपनी बहन की टिप्पणियों के विरोध में, अपने शिक्षक मित्र का ही पक्ष ले रहा था। धीरे-धीरे यह विवाद गरमाया। बच्चे जो भी पढ़ें वो उसे समझें यह सुनिश्चित करना क्या गलत था? मेरे बहन ने बताया कि इस कक्षा के पहले उनके बेटे को पुस्तकें पढ़ने से अथाह प्रेम था और वो खुद बहुत कुछ पढ़ता था। परंतु अब उसने पढ़ना ही बंद कर दिया था। (और इसके कई वर्षों बाद तक भी उसने दुबारा पढ़ना शुरू नहीं किया।)

मैं फिर भी अपनी बात पर अड़ा रहा। अगर बच्चों को शब्दों के अर्थ ही नहीं पता होंगे तो वे पढ़ते समय उनका अर्थ कैसे समझेंगे? मेरी बहन ने कहा, 'बेवकूफों जैसी बातें मत करो! जब तुम छोटे थे तब तुम्हारी शब्दावली काफी वृहत थी और तुम हमेशा वयस्कों की पुस्तकें ही पढ़ते थे। तुमने बचपन में क्या कभी शब्दकोश उठाकर देखा?'

उन्होंने सही ही कहा। मैंने कभी भी शब्दकोश नहीं देखा था। आज भी मुझे उसकी ज़रूरत नहीं पड़ती है। अपने पूरे जीवन में मैंने शब्दकोश में पचास से अधिक शब्दों के मायने नहीं देखे होंगे, शायद उससे भी कम।

उसके बाद से मैंने इस विषय पर बहुत से शिक्षकों के साथ चर्चा की है। इस बात को मैंने कई बार दोहराया है, 'परीक्षणों के अनुसार आप जैसे पढ़े-लिखे साक्षर लोगों लगभग बीस हज़ार शब्द जानते हैं। उनमें से आपने कितनों को शब्दकोश में खोजा है?' शिक्षक इसे सुनकर चौंक जाते हैं। कुछ ने शायद एक हज़ार या उससे कम शब्दों को शब्दकोश में खोजा होगा। उन्होंने बाकी शब्द कैसे सीखे?'

जैसे उन्होंने बोलना सीखा, उसी प्रकार उन्होंने उन शब्दों को सीखा - शब्दों से अलग-अलग संदर्भों में उनकी बार-बार मुलाकात होती और अंत में उनसे दोस्ती हो जाती और वे पूरे संदर्भ में उनके अर्थ को समझ जाते।

अंग्रेजी के शिक्षक समझ पर इतना बल देते हैं यह एक दुर्भाग्य की बात है। बच्चे जो भी पढ़ें वो सब उन्हें समझ में आए ही, यह क्यों ज़रूरी है? क्या कभी किसी के साथ ऐसा हुआ है? मेरे साथ न तो कभी ऐसा हुआ, और न ही मैंने कभी ऐसा करा। मैंने हमेशा ऐसी पुस्तकें पढ़ीं जिन्हें शिक्षक 'कठिन' करार देते। इन पुस्तकों में तमाम ऐसे शब्द थे जिन्हें मैं नहीं जानता था। इसीलिए मैंने एक अच्छा पाठक बना। दस साल की उम्र में ही मैं डीआर्टगनन की कहानियां पढ़ने और उनका आनंद लेने लगा था। मुझे उस समय तक यह नहीं पता था कि फ्रांस और इंग्लैन्ड के बीच युद्ध क्यों हुआ, या फ्रेंच न्यायालयों में कौन किससे लड़ रहा था या फिर मस्केटियर क्यों कार्डिनल रिचलू के लोगों से झगड़ते रहते थे। परंतु यह बातें न मालूम होने से मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। मुझे कार्डिनल कौन होता है इसका भी नहीं पता था। मैं सिर्फ इतना जानता था कि वो एक खतरनाक और शक्तिशाली आदमी है और मेरे मित्रों को उससे डर लगता है। बस, इतना भर जानना ही मेरे लिए काफी था।

इतना सब कहने के बाद मैं सोचता हूं कि घर या कक्षा में एक बड़ा, विस्तृत शब्दकोश होना एक अच्छी बात है। अगर कोई आपको बाध्य न करे तो किसी अन्य किताब के पन्ने पलटने में आपको इतना मज़ा नहीं आएगा। बच्चों को, उनकी आयु के अनुसार, बड़े शब्दकोश में बहुत सी रोचक और अच्छी बातें मिलेंगी। वो उसमें मज़ेदार उच्चारण वाले शब्द खोज सकते हैं। वे उन शब्दों को ढूंढ सकते हैं जिन्हें कक्षा में किसी ने कभी सुना ही न हो। वे अपनी पसंद के लंबे, या फिर निषेध शब्दों को खोज सकते हैं जिसमें उन्हें सबसे ज़्यादा मज़ा आएगा। एक विशेष उम्र में और शिक्षकों एवं पालकों की थोड़ी सी सहायता से बच्चे शब्द के उद्‌गम, और समय के साथ उनके बदलते अर्थ के बारे में जान सकते हैं। शब्दों को अपने मज़े के लिए खोजना एक बात है। परंतु अगर आपको पढ़ते समय बार-बार शब्दकोश उठाना पड़े क्योंकि ऐसा नहीं करने से आपको शिक्षक परेशान करेगा तो वो एक बिल्कुल अगल बात होगी।

बहन के साथ हुए विवाद के दो साल बीतने के बाद पांचवी कक्षा को पढ़ाते समय मैं पढ़ने के बारे में गंभीरता से सोचने लगा। मेरे कक्षा के बच्चों को एक कार्ड पर उनके द्वारा पढ़ी प्रत्येक पुस्तक, उसके लेखक और सार को सिर्फ एक लाइन में लिखना था। मुझे किसी प्रतिस्पर्धा का आयोजन तो करना नहीं था जिसमें सबसे ज़्यादा पुस्तकों

के पाठक को कोई ईनाम मिले। वैसे इस प्रकार की प्रतिस्पर्धाओं में ही खूब नकल होती है। बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, मैं सिर्फ यह पता करना चाहता था। कुछ समय पश्चात यह स्पष्ट हुआ कि यह बहुत बुद्धिमान बच्चे, जो पढ़े-लिखे और साहित्यिक परिवारों से आए थे, बहुत कम पुस्तकें पढ़ते थे और पढ़ने से उन्हें एक गहरी घृणा थी। इसका क्या कारण हो सकता था?

इस समय के मैंने अपने सोच को, ***हाउ चिल्ड्रन फेल*** नाम की पुस्तक में लिखा है। अधिकांश बच्चों के लिए स्कूल एक खतरनाक जगह होती है और बच्चे इस खतरे से बचने का यथा संभव प्रयास करते हैं। अब मुझे साफ स्कूल में पुस्तकें भी एक बहुत खतरनाक हथियार जैसे दिखने लगीं।

हम स्कूल में शुरू से ही, पुस्तकों और उनके पढ़ने को, फेल करने और नीचा दिखाने का एक माध्यम बना देते हैं। जब बच्चे छोटे होते हैं तब हम उनसे शिक्षक और बाकी बच्चों के सामने, ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने को कहते हैं जिससे कि उन्हें सब शब्द समझ में आए इसका पता हमें चल सके। इसका मतलब होता है कि बच्चों को कोई शब्द न मालूम होने पर वो पूरी कक्षा के समक्ष गलती करेंगे। उन्हें अपनी गलती का तत्काल पता चल जाएगा। गलती करने पर शायद कुछ अन्य बच्चे अपने हाथ हिलाकर 'ओह, ओह' की आवाज़ें निकालने लगें। हो सकता है वो कुछ हंसें, एक-दूसरे को कोहनी मारें या फिर अपना मुंह बनाएं। शायद शिक्षक पूछे, 'क्या तुम्हें अच्छी तरह पता है?' या फिर वो किसी और से उसके बारे में पूछे। और अगर शिक्षक कुछ दयालु हुआ तो वो शायद उसके चेहरे पर एक दुखी मुस्कुराहट प्रकट हो - जो किसी संवेदनशील बालक के लिए एक कठोर सज़ा साबित हो सकती है। इतना अवश्य होगा, जिस बच्चे ने गलती की है उसे अपनी गलती का पता चल जाएगा, जिससे वो अपने आपको बेवकूफ और अपमानित महसूस करेगा। अगर हम उसकी जगह होते तो हम भी वैसा ही महसूस करते।

इससे बहुत से बच्चे जल्द ही, पुस्तक पढ़ने का संबंध गल्तियों, सजा़ और अपमान से जोड़ने लगते हैं। यह शायद हमें अच्छा न लगे पर असल में ऐसा ही होता है। मार्क ट्वेन ने एक बार कहा था कि गर्म तवे पर एक बार बैठने के बाद बिल्ली, दुबारा कभी ठंडे तवे पर भी पांव तक नहीं रखेगी। यह बात बिल्लियों के लिए सही है तो उतनी ही बच्चों के लिए खरी है। अगर बच्चे गर्म पुस्तकों पर कुछ बार बैठते हैं और अगर पुस्तकों के कारण उन्हें अपमानित और दुख झेलना पड़ता है तो वे पुस्तकों को दूर से ही प्रणाम करने का निश्चय लेंगे।

पांचवी कक्षा के बच्चों को चार साल पढ़ाने के बाद इस सिद्धांत की सच्चाई में मेरी आस्था बढ़ गई। मेरी नई कक्षा में ऐसे बहुत से बच्चे थे जो स्कूल के काम और पढ़ने में बहुत मुश्किल महसूस कर रहे थे। मैंने जी-जान लगाकर पुस्तकों के प्रति उनके भय और घृणा को दूर करने और उन्हें अधिक पढ़ने के प्रति प्रेरित करने की कोशिश की।

एक दिन स्कूल शुरू होने के तुरन्त बाद मैंने उनसे कहा, 'आज मैं पढ़ने के बारे में तुमसे एक ऐसी बात करूंगा जो आजतक तुमने किसी भी शिक्षक के मुंह से नहीं सुनी होगी। मैं चाहूंगा कि इस वर्ष तुम अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ो, पर तुम उन्हें केवल अपने आनंद के लिए ही पढ़ो। तुम्हें पुस्तकें समझ में आईं या नहीं, इसके बारे में तुम से कोई प्रश्न नहीं पूछूंगा। तुम्हें पुस्तक समझ में आए और तुम उसे अपने मज़े के लिए पढ़ना चाहो बस यही मैं चाहता हूं। मैं तुमसे किसी शब्द का अर्थ भी नहीं पूछूंगा।

'अंत में,' मैंने उनसे कहा, 'क्योंकि तुमने किसी पुस्तक को शुरू किया है इसका मतलब यह नहीं है कि तुम्हें उसे खत्म ही करना है। तुम पुस्तक के पहले तीस-चालीस पन्ने पढ़कर उनका जायज़ा लो। उसके बाद अगर तुम्हें पुस्तक के पात्र, या पुस्तक पसंद न आए तो उसे बंद करके रख दो और दूसरी पुस्तक उठा कर पढ़ो। जब तक तुम्हें पुस्तक में मज़ा आए तब तक मुझे उसके कठिन या सरल, लंबी या छोटी होने से कुछ फर्क नहीं पड़ता। मैं इस सबके बारे में तुम्हारे माता-पिता को भी एक पत्र लिख रहा हूं जिससे वो तुमसे पुस्तकों के बारे में बेकार के सवाल-जवाब न करें।

बच्चे स्तब्ध और शांत बैठे रहे। भला कभी कोई शिक्षक ऐसा करेगा? एक लड़की हमारे पास हाल ही में एक दूसरे स्कूल से आई थी। वहां उस बच्ची को बहुत परेशानियां उठानी पड़ीं थीं। वो एक बेहद रोचक, ज़िंदादिल और बुद्धिमान लड़की थी। वो बहुत देर तक मुझे टकटकी लगाए देखती रही और फिर उसने धीरे से और गंभीरता से

मुझसे पूछा, 'मिस्टर होल्ट, क्या आपने जो कहा उसमें सच्चाई है?' मैंने भी गंभीरता से उत्तर दिया, 'मेरा हरेक शब्द सच है।'

उस लड़की ने मेरी बात पर विश्वास किया। उसने सबसे पहले, डाक्टर जौइस की ***हाऊ द ग्रिंच स्टोल क्रिस्मस*** पुस्तक पढ़ी। यह पुस्तक तीसरी के बच्चों के लिए भी कठिन नहीं है। कुछ समय तक वो इसी स्तर की अन्य पुस्तकें पढ़ती रही। इस दौरान वो अपनी कुछ उन उलझनों से मुक्त हुई जिन्हें उसके पूर्व शिक्षकों ने पैदा किया था। उसे 'ऊंची कक्षा' के स्तर तक लाने के लिए इन शिक्षकों ने उसे अपनी कठिनाइयों को सुलझाने का समय ही नहीं दिया था। मेरी कक्षा में छह हफ्ते बिताने के बाद उसके साथ मेरी अच्छी दोस्ती हो गई। क्योंकि उसकी पढ़ने और घोड़ों दोनों में गहरी रुचि थी इसलिए मैंने उसे ***नेशनल वेल्वेट*** नाम की पुस्तक पढ़ने का सुझाव दिया। मैंने पुस्तक की संक्षिप्त कहानी उसे बताई। कहानी एक छोटे लड़की के बारे में थी जिसे घोड़ों से प्यार था और उनपर सवारी करना पसंद था। मैंने उस लड़की से यह भी कहा कि अगर उसे कहानी पसंद न आए तो वो बेशक किताब को न पढ़े। उसने कोशिश की। किताब उसके पढ़ने के स्तर से काफी कठिन थी फिर भी उसने उसको पूरा पढ़ा और उसमें उसे बहुत मज़ा आया।

वसंत के दौरान उसने मुझे एकदम आश्चर्य में डाल दिया। एक दिन, एक छुट्टी के पीरियड में वो अपनी डेस्क पर बैठ कर पढ़ रही थी। उस किताब में चित्रों की एक झलक देखकर मुझे उस पुस्तक का कुछ अंदाज़ लगा। 'ऐसा नहीं हो सकता,' मैंने खुद से कहा और फिर पास जाकर मैंने किताब को करीबी से देखा। एकदम सही, वो ***मोबी डिक*** का वो संस्करण पढ़ रही थी जिसमें रौकवेल केन्ट ने विशेष वुडकट्स द्वारा चित्र बनाए थे। जब मैं उस लड़की की डेस्क के पास आया तो उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। मैंने पूछा, 'क्या तुम इस किताब को पढ़ रही हो?' उसने हां में उत्तर दिया। 'क्या तुम्हें किताब पसन्द आई?' 'हां, बड़ी रोचक है!' उसने जवाब दिया। मैंने पूछा, 'क्या तुम्हें किताब के कुछ अंश कठिन नहीं लगते?' उसने उत्तर दिया, 'हां, मैं उन अंशों को छोड़कर आगे के अच्छे हिस्से पर चली जाती हूं।'

इसी प्रकार पढ़ना चाहिए - आनन्द, खुशी और रोमांच के लिए। पर दुर्भाग्य से स्कूलों में ऐसा नहीं होता है। पढ़ने के लिए कुछ ढूंढो, उसमें डूबो, अच्छे अंशों को पढ़ो, खराब हिस्सों को छोड़ दो और पुस्तक से अधिक-से-अधिक हासिल करो और फिर दूसरी किताब उठाओ। परंतु स्कूलों की मान्यता इससे कितनी उल्टी है। हम एक ही पुस्तक को निचोड़-निचोड़ कर उसकी 'समझ' का अर्क बच्चों को पिलाना चाहते हैं।

जिन शिक्षकों को इसमें मज़ा आता है और जो उसे बड़े चाव से करते हैं उनके लिए पुस्तकों को ज़ोर से पढ़ना एक अच्छी बात है। मेरी समझ में आया है कि पांचवी के बच्चों को ही नहीं, इसमें नौवीं और ग्यारहवीं के बच्चों को भी बड़ा मज़ा आता है। जैक लंडन की लिखी ***टू बिल्ड ए फायर*** इसके लिए एक बहुत अच्छी कहानी है। इसके लिए भूत-प्रेतों की कहानियाँ जैसे डब्लू एफ हारवे की ***'औगस्ट हीट'*** और डब्लू. डब्लू. जेकब की ***'द मंकीज़ पौ'*** शायद सबसे अच्छी हैं। शिरले जैकसन की कहानी ***'द लॉटरी'*** भी ज़बरदस्त है और उससे बाद में चर्चा के लिए तमाम प्रश्न भी उठेंगे। बच्चों ने क्योंकि विलियम गोल्डिंग की पुस्तक ***'लार्ड आफ द फ्लाइज़'*** को टेलीविजन पर देखा था इसलिए मैंने उसके एक-दो अध्याय उनको पढ़ने का मन बनाया। परंतु बच्चों ने मुझे पूरी पुस्तक को पढ़ने के लिए मज़बूर किया।

जिस पांचवी कक्षा को मैं पहले पढ़ाता था उसके बच्चे तीव्र बुद्धि वाले थे, सुशिक्षित परिवारों से आते थे। ऐसा लगता था कि वे स्कूल में सफल होंगे। परन्तु इनमें से अधिकांश बच्चों को अपनी बात को कहकर या लिखकर अभिव्यक्त करना बहुत मुश्किल लगता था। मैं ऐसे कई पांच वर्ष के बच्चों को जानता था जो इस पांचवीं कक्षा के बच्चों से भाषा में कहीं अधिक सुस्पष्ट थे। कुछ बोलने के लिए कहने पर यह बच्चे झिझकते, शर्माने लगते और कुछ साफ इंकार कर देते। लिखने के लिए कहने पर वो कई मिनटों तक बैठे कागज़ को सिर्फ निहारते रहते थे। उनमें से किसी के लिए भी उनकी रुचि और उनके द्वारा चुने विषयों पर आधा पन्ना भी लिख पाना एक दुश्वार काम था।

एकदम निराश होने के बाद मैंने एक तरकीब खोज निकाली और उसका नाम दिया 'निबंध रेस'। मैंने कक्षा को दो टीमों में बां टा और उन्हें समझाया कि मेरे 'शुरू' कहते ही वो अपने-अपने कागज़ों पर कुछ भी लिखना शुरू

कर दें। वो अपनी मनमर्ज़ी से लिखने को मुक्त थे परंतु 'कुत्ता, कुत्ता, कुत्ता, कुत्ता' बार-बार नहीं लिख सकते थे। वो कोई सच्ची कहानी, लोगों या स्थानों का वर्णन, घटनाएं, इच्छाएं, सपने - जो जी करे लिख सकते थे। हिज्जे ठीक ही हों, इसकी फिक्र उन्हें नहीं करनी थी। जब मैं 'बंद' कहूं तो सबको लिखाई तत्काल बंद करके अपने लिखे हुए निबंध के शब्दों को गिनना था। जिस टीम के सदस्य सबसे अधिक शब्द लिख पाएंगे वही टीम 'निबंध रेस' में विजयी होगी।

इसमें मुझे काफी सफलता मिली और उनके कई कारण भी थे। पहला आश्चर्य तो यह था कि जिन दो बच्चों ने बार-बार सबसे अधिक शब्द लिखे उनकी कक्षा के सबसे असफल बच्चों में गिनती होती थी। वो तेज़ थे परतु स्कूल में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। दोनों लिखते समय हिज्जों में ढेरों गल्तियां करते थे जिसके डर से उनकी लिखाई धीमी पड़ जाती थी और हिज्जे भी ठीक नहीं होते थे। जब वो इस भय से मुक्त हो गए तो उन्होंने अपने अंदर छिपी प्रतिभाओं को बाहर निकाला।

उन दोनों में से एक छोटा लड़का काफी उत्साही था। वो लंबी-लंबी रोमांचक कहानियां लिखता था जिसमें मैं एक प्रमुख पात्र होता था, जैसे: 'जिस दिन मिस्टर होल्ट जेल गए,' या 'जिस दिन मिस्टर होल्ट गड्ढे में गिरे,' या 'जिस दिन मिस्टर होल्ट कुचले गए' आदि। ये कहानियां बेहद मज़ेदार होती थीं और जब मैं कक्षा में इन्हें ज़ोर से पढ़ता तो सब बच्चों को सुनकर बड़ा मज़ा आता। एक दिन मैंने बच्चों को 'निबंध रेस' लिखने के लिए एक विषय सुझाया। उन्हें यह सुझाव बिल्कुल पसंद नहीं आया। 'पहले ज़रा विषय तो सुन लो,' मैंने उनसे विनती की, 'जिस दिन स्कूल जल कर राख हुआ।'

बच्चे खुशी से चिल्लाने लगे और तत्काल काम पर लग गए। वो बीस मिनटों तक लगातार लिखते रहे और लिखते समय प्रसन्नता से हंसते रहे। सभी के निबंध एक-समान थे। निबंधों में सभी बच्चे स्कूल की जलती इमारत के सामने नाच रहे थे और पुस्तकों को आग में झोंक रहे थे। बच्चे मुझको और अन्य शिक्षकों को लगातार आग में से बाहर निकलने से रोक रहे थे।

हमारी पहली 'निबंध रेस' में बच्चों ने औसतन 10 शब्द प्रति मिनट लिखे, पर कुछ महीनों के बाद वो 20 शब्द प्रति मिनट के हिसाब से लिखने लगे। सबसे धीमे बच्चों के काम में तीन गुना बढ़ौत्तरी हुई। सबसे धीमे बालक, जो कक्षा का सबसे तेज़ छात्र था भी 15 शब्द प्रति मिनट की गति से लिखने लगा था। पर सबसे मज़ेदार बात यह थी कि सभी बच्चों को 'निबंध रेस' में आनंद आ रहा था और वे रोचक बातें लिख रहे थे।

कुछ समय बाद मैंने पढ़ा कि प्रोफेसर एस आई हायाकावा के नए छात्रों को अंग्रेजी पढ़ाने का इससे भी बेहतर तरीका इज़ाद किया था। हरेक दिन वो अपनी कक्षा में छात्रों से बिना रुके, आधे घंटे तक लिखने को कहते थे। छात्र किसी भी विषय पर लिख सकते थे। ज़रूरी शर्त थी बिना रुके लिखना। अगर कभी वो बीच में रुकते तो उन्हें अपने आखिरी वाक्य की तब तक नकल उतारनी पड़ती जब तक उनके दिमाग में कोई नया विचार नहीं आता। अक्सर वाक्य की नकल करने से पहले ही उन्हें नया विचार आ जाता। मैंने भी इसी तकनीक का इस्तेमाल किया है और इस प्रकार के लेखन को 'नॉन-स्टाप' का नाम दिया है। कभी-कभी मैं छात्रों को 'नॉन-स्टाप' का विषय देता हूं पर ज़्यादातर बार मैं उन्हें मनमर्ज़ी से विषय चुनने देता हूं। 1969 की सर्दियों में, बर्कली के मेरे छात्रों और मैंने भी, रोज़ाना 10 से 15 मिनट तक इसी प्रकार का लेखन किया। अभ्यास के साथ हमारे दिमाग में विचार इतनी तेज़ी से आते हैं कि हमारे लिए उन्हें लिख पाना मुश्किल हो जाता है। कुछ छात्रों को इस प्रकार के लेखन में बड़ा आनंद आता है। कभी-कभी मैं उनसे लिखे हुए शब्दों को खुद गिनने को कहता हूं। यह सिर्फ उनकी जानकारी के लिए होता है, मुझे बताने के लिए नहीं। कभी-कभी बच्चों को अपने लेख मुझे देने पड़ते हैं पर अधिकतर यह निजी लेखन उनके खुद के लिए ही होता है।

यह निजी लेखन काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। आमतौर पर हरेक अंग्रेजी की कक्षा में बच्चे केवल उतना ही लिखते हैं जितना शिक्षक पढ़कर जांच पाए। वे उससे ज़्यादा नहीं लिखते हैं। इसका एक ही इलाज है। बच्चे इतना अधिक लिखें जिसे शिक्षक पढ़ ही न पाए। जब बच्चे खुद अपने लिए लिखेंगे तो वे ऐसी बहुत सारी बातें लिखेंगे जिन्हें वे किसी को पढ़वाना नहीं चाहेंगे। बच्चे ऐसा तब करते हैं ज कुछ अंग्रेजी शिक्षकों के अनुसार, छात्रों के लिए निजी लेखन तभी उपयोगी सिद्ध होंगे जब उन्हें शिक्षक जांचेंगे। मैं कई कारणों से इससे असहमत हूं। पहले

तो, अधिकांश छात्र, विशेषकर गरीब छात्र जांचे गए कार्य को कभी पढ़ते ही नहीं हैं क्योंकि ऐसा करना उबाऊ और दुखदायी होता है। दूसरे, जांचे हुए कार्य को पढ़ने से भी उन्हें कोई मदद नहीं मिलती है और वे आगे के अपने लेखन में शिक्षक के सुझावों का समावेश नहीं करते हैं। यह तब भी सच होता है जब छात्रों को शिक्षक की बातों पर विश्वास होता है।

तीसरी, बात सबसे महत्वपूर्ण है। हम लिख कर ही सही लेखन सीखते हैं, अन्य लोगों के लेखन संबंधी विचारों को पढ़कर नहीं। अगर छात्रों को किसी चीज़ की सख्त ज़रूरत है तो वो है लिखने के अभ्यास की, खासकर उन चीज़ों के विषय में जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते हैं। अपने महत्वपूर्ण विचारों को लिखने से छात्रों को बहुत संतोष मिलता है और वो इन्हें बहुत प्रभावशाली और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं।

अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के शिक्षक अपना बहुत मूल्यवान समय सही हिज्जों में लगाते हैं। यह व्यर्थ का काम है। इससे कुछ लाभ नहीं, उल्टे नुकसान ही होता है। हमें अपने आपसे यह प्रश्न पूछना चाहिए, 'छात्र सही हिज्जे किस प्रकार सीखते हैं? जब उन्हें किसी कठिन शब्द के सही हिज्जे नहीं मालूम होते हैं तो वे क्या करते हैं?' मैंने यह प्रश्न उन तमाम लोगों से पूछा है जो हिज्जों में अच्छे हैं। हरेक से मुझे एक-जैसा ही उत्तर मिलता है। वे तत्काल शब्दकोश को नहीं पलटते हैं और न ही वे कठिन नियमों को याद करने की कोशिश करते हैं। वे उस शब्द को कई अलग-अलग तरीकों से लिखते हैं, उन्हें सावधानी से देखते हैं और उनमें से सबसे सही हिज्जों वाले शब्द को चुनते हैं। अक्सर वे सही होते हैं।

अच्छे पाठक शब्दों की लिखाई को जानते हैं, लिखाई के दौरान वे उन्हें आत्मसात करते हैं। शब्दों के बिम्ब उनके मस्तिष्क में अंकित होते हैं और वे उन बिम्बों पर विश्वास करते हैं। बच्चों को हिज्जे या शब्दविन्यास 'सिखाते' समय हम उनमें इस प्रकार की कुशलताएं विकसित नहीं करते, उल्टे उनके विकास को रोकते हैं।

बुरी बात तो यह है कि हम बच्चों में हिज्जों या शब्दविन्यास के बारे में चिन्ता पैदा करते हैं। किसी शब्द की गलत लिखाई को हम एक अपराध मानते हैं और गलती करने वाले को भारी सज़ा देते हैं। बहुत से शिक्षक बच्चों में 'हिज्जों के प्रति चेतना' जगाने की बात करते हैं। वे छात्रों द्वारा लिखे सुंदर निबन्धों में लिखाई की चंद गल्तियों के कारण उन्हें फेल कर देते हैं। इस तरीके से उन्हें खुद हार का ही सामना करना पड़ता है। चिंता की अवस्था में हमारी समझदारी और सुध मारी जाती है। हरेक व्यक्ति यह जानता है कि भावनात्मक दबाव में सरल-से-सरल चीज़ों को याद करना भी बहुत मुश्किल होता है। उस समय भरसक प्रयासों के बावजूद चीज़ों को खोजना कठिन होता है। जब हम बहुत चिंतित होते हैं तब हम अपने मस्तिष्क द्वारा भेजे संदेशों पर भी विश्वास नहीं करते। बहुत से बच्चे हिज्जों की गल्तियां इसलिए करते हैं क्योंकि वे अपने अनुमान के सही होने के बावजूद भी उस पर यकीन नहीं करते। मैंने अक्सर बच्चों के लेखों में पाया है कि वे पहले शब्द को सही लिखते हैं और फिर उसे काटकर गलती करते हैं।

कुछ ऐसी तरकीबें हैं जिनसे बच्चे अपने मस्तिष्क में शब्दों के स्पष्ट बिम्ब बना सकते हैं। कुछ शिक्षक इनका सफलतापूर्वक उपयोग भी करते हैं। एक तरीका है - हवा में लिखना, यानी शब्द को उंगली से हवा में लिखना और उसके बिम्ब को 'देखना'। मैंने पांचवीं के बच्चों के साथ हवा में या फिर मेज़ की सतह पर लिखाई का परीक्षण किया। अधिकांश बच्चे इससे बहुत उत्साहित हुए। मुझे अभी भी उनकी कुछ बातें याद हैं, 'वास्तव में तो वहां कुछ भी नहीं है, फिर भी मुझे दिखाई दे रहा है!' उसका एकदम जादुई असर हुआ। जब मैं छोटा था तो इस प्रकार हवा में लिखना मुझे बहुत पसंद था। मैं हवा में 'पैसा, पैसा, पैसा,' इसलिए नहीं लिखता था क्योंकि मुझे पैसे चाहिए थे पर इसलिए क्योंकि मुझे इस शब्द की लिखाई में मज़ा आता था।

एक और तरीका है जो बच्चों को अपने मस्तिष्क में, शब्दों के स्पष्ट बिम्ब बनाने में सहायक हो सकता है। इसमें बच्चे बहुत तेज़ी से शब्दों या चीज़ों को देखते हैं। इसके लिए एक मशीन भी है - टैचिस्टोस्कोप। इस मशीन के इतना मंहगा होने के कारण बहुत से बच्चे इसका कभी उपयोग नहीं कर पाएंगे। परंतु कुछ तीन और पांच, एवं चार और आठ इंच के फॉइल कार्डों द्वारा इस मशीन के प्रभाव को पैदा किया जा सकता है। आप छोटे कार्डों पर बच्चों के देखने के लिए शब्द लिखें, या चित्र बनाएं। आप एक बड़े कार्ड को छोटे कार्ड के ऊपर रखकर बड़े को

झटके से हटाएं और फिर छोटे कार्ड को उससे छिपाएं। इस प्रकार आप मुफ्ती का टैचिस्टोस्कोप बना पाएंगे जिससे बच्चा खुद काम कर सकेगा।

एक बार पहली कक्षा को पढ़ाते हुए मुझे लगा कि वे भी मेरे पांचवीं के छात्रों के जैसे ही, बिना रुके, मुक्त लेखन का आनंद लें। दोपहर के भोजन अवकाश से चालीस मिनट पहले मैंने उनसे कागज़ पर पेंसिल से अपनी मनमर्ज़ी से कुछ भी लिखने को कहा। उन्हें यह बात पसंद आई, परंतु तभी एक बच्चे ने चिन्ता के भाव में मुझसे पूछा, 'अगर हम सही तरीके से किसी शब्द को लिख न पाएं, तो?'

'उसकी बिल्कुल फिक्र न करना,' मैंने कहा, 'तुमसे जितना अच्छा बन पाए वैसा लिखना।'

उसके बाद कमरे में एकदम शांति छा गई। मुझे बच्चों के चेहरे पर चिंता और स्थिर पेंसिलें ही दिखाई दीं। शायद यह सही तरीका नहीं था। इसलिए मैंने कहा, 'अच्छा, मैं बताउंगा कि तुम्हें क्या करना है। जब कभी तुम्हें कोई शब्द लिखने में दिक्कत हो तो तुम मुझे बताना और मैं उसे ब्लैकबोर्ड पर लिख दूंगा।'

इससे बच्चों को बहुत सांत्वना मिली और वो काम में लग गए। जल्दी ही बच्चे शब्दों को लिखने का आग्रह करने लगे। मैं एक लिखता इतनी देर में कोई दूसरा पूछ बैठता। भोजन के अवकाश तक लगभग पूरा ब्लैकबोर्ड शब्दों से भर चुका था। रोचक बात यह थी कि बच्चों द्वारा पूछे गए अधिकांश शब्द उनकी पुस्तकों के शब्दों से कहीं अधिक लंबे और कठिन थे। शब्दों के हिज्जों से मुक्ति पाने के बाद बच्चे बहुत कठिन और रोचक शब्दों को भी उपयोग करने के लिए लालायित थे।

अगले दिन, स्कूल शुरू होने के समय तक, ब्लैकबोर्ड पर वे शब्द लिखे थे। उनको मिटाने से पहले मैंने बच्चों से कहा, 'देखो, मुझे ब्लैकबोर्ड पर लिखे शब्दों को अब मिटाना ही होगा, परन्तु उन्हें मिटाने से पहले मैं केवल उत्सुकता के कारण यह जानना चाहूंगा कि क्या तुम्हें इनमें से कुछ शब्दों के सही हिज्जे याद हैं।'

इसके परिणाम आश्चर्यजनक रहे। मुझे लगा कि शब्द पूछने और इस्तेमाल करने वाले बच्चे को ही उसके हिज्जे याद हुए होंगे, बाकी बच्चों को नहीं। परन्तु बाकी बच्चों को भी ब्लैकबोर्ड पर लिखे ज़्यादातर शब्द याद रहे। उन्होंने उन शब्दों को कैसे सीखा? शायद जब मैं शब्दों को ब्लैकबोर्ड पर लिख रहा था उस समय बहुत से बच्चों ने अपना सिर उठाकर उन्हें शांति और उत्सुकता से देखा। वो सिर्फ शब्द की लिखाई को देखना चाहते थे। परंतु उन शब्दों के बिम्ब और उनका उच्चारण उनके दिमाग में अच्छी तरह अंकित हो गया और अगले दिन तक उन्हें याद रहा। बच्चों के शब्दविन्यास और लिखाई सीखने का मुझे यही सबसे अच्छा तरीका लगता है।

अगर स्कूल और शिक्षक बच्चों की भाषा को किसी पुराने घिसे-पिटे तरीके से खराब कर रहे हों तो इसमें मां-बाप क्या कर सकते हैं? सबसे पहले वे उन्हें बदलने का प्रयास करें। शिक्षकों को बताएं कि वे खुद परिवर्तन के उत्सुक हैं। वे अन्य पालकों से भी चर्चा करें, पालक-शिक्षक समितियों में इन मुद्दों को उठाएं, स्कूल के अंग्रेजी विभाग और बच्चे के शिक्षक के साथ बातचीत करें। बहुत से स्कूल और शिक्षक माता-पिता की राय जानने के इच्छुक होते हैं।

अगर स्कूलों और शिक्षकों को मनाना कठिन हो, तो? आप अपने बच्चे को समझाएं कि स्कूल के काम से ऊबे नहीं, निराश और चिंतित न हो। आप स्कूल की बेवकूफ मांगों को पूरा करने में बच्चे की मदद करें और साथ-साथ घर में उसे रोचक और वैकल्पिक साधन उपलब्ध कराएं। पुस्तकों के साथ बच्चों के साथ खूब बातचीत करें और बच्चे की बातों को इज़्जत और गंभीरता से सुनें। मैं गर्मी की छुट्टियां अपने चाचा के साथ बिताता था। कक्षा की तुलना में कहीं अधिक रोचक अंग्रेजी मुझे उनसे सीखने को मिली। चाचा के साथ बातचीत में उम्र आड़े नहीं आती थी क्योंकि वे मेरी बातों को बहुत ध्यान से सुनते थे।

कालेज का पहला साल पूरा करने के बाद एक लड़की जिसे मैं जानता था ने अपनी मां को लिखा, 'वाह! क्या बात है! ज़रा सोचो कि अब मुझे कभी भी अंग्रेजी नही पढ़नी पड़ेगी!' परंतु वो लड़की अंग्रेजी की एक मेधावी छात्र थी। उसे हमेशा से पुस्तकें पढ़ने और लिखने का शौक था। यह कितनी बेकार और बेवकूफी की बात है कि शिक्षक अंग्रेजी जैसे लचीले और सृजनशील विषय को बच्चों के लिए एक उबाऊ विषय बना देते हैं। हम आशा करें कि इसमें कुछ परिवर्तन होगा और हम एक बेहतर शुरुआत की ओर बढ़ेंगे।

1967

व्यवस्था और अव्यवस्था

येल एलूमियाई मैगज़ीन में, गरीब बस्तियों में स्कूलों की पढ़ाई पर एक लेख छपा। येल विश्वविद्यालय के एक पुराने छात्र ने इस लेख को पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उसी प्रतिक्रिया का एक संक्षिप्त और सम्पादित अंश नीचे दिया गया है।

हमारे स्कूल सोचते हैं कि कक्षा में सीखना व्यवस्था का ही नतीज़ा है। सच, असल में इसका उल्टा है। कक्षा में बच्चे जमकर शोर इसलिए मचाते हैं क्योंकि वहां पर उससे कुछ और अच्छा करने के लिए होता ही नहीं है। बच्चे कुछ करना चाहते हैं। इसमें भीरू बच्चों को डर लगता है। पर हमारे-आपके शहरी बच्चे, जिन्हें समाज का भय या उससे कुछ लेना नहीं होता, शैतानी करने में नहीं हिचकिचाते हैं। सच्ची सीख किसी व्यवस्थित प्रक्रिया की वजह से नहीं होती है।

शिक्षक कहता है, 'मुझे उपयोग में लाई जाने वाली पुस्तकों के बारे में नहीं पता, कई पुस्तकों के शीर्षकों का उच्चारण तक नहीं आता, बुलेटिन बोर्ड पर क्या लगाना है, उन चार बच्चों के साथ क्या करना है जो सिर्फ स्पैनिश भाषा में ही बोलते हैं, या फिर मैं ब्लैकबोर्ड पर अपनी अस्पष्ट लिखाई को कैसे सुधारूं।' यह वास्तविक समस्याएं अवश्य हैं, पर क्या इनका समाधान खोजना बहुत कठिन है? पुस्तकें? बच्चों से क्यों न पूछें उन पुस्तकों के बारे में जो उन्होंने कभी पढ़ी हैं और जो उन्हें पसंद हैं। बच्चों को अन्य क्या चीज़ें पसंद हैं? कुछ ब्लैक लेखकों की पुस्तकों से बच्चों का शुरू में परिचय क्यों न कराएं? यह सुझाव हर जगह सफल हुआ है। शब्दों का उच्चारण? उनसे क्यों न पूछें? बुलेटिन बोर्ड? क्यों न ऐसी चीज़ों को चिपकाएं जिनमें सबकी रुचि हो? ***लाईफ*** और ***लुक*** नाम की दोनों पत्रिकाओं का शायद ही कोई ऐसा अंक हो जिनमें एक-दो नहीं कम-से-कम बीस रोचक चित्र न हों। स्पैनिश बोलने वाले बच्चे? इन बच्चों से बात करने के लिए क्यों न कुछ स्पैनिश ही सीखें? अगर हमें इन बच्चों से एक साल में अंग्रेजी सीखने की अपेक्षा है तो शिक्षक को भी थोड़ी बहुत स्पैनिश तो सीखनी ही चाहिए। हाथ की लिखाई? छपाई क्यों न करें? या फिर अभ्यास करें? या फिर बच्चों को इस सच्चाई से अवगत कराएं कि अधिकांश वयस्कों की लिखाई बहुत खराब होती है, और इसे सबकी समस्या जैसे पेश करें?

बाद में वो 'सामूहिक मौन सहमति की रणनीति' की बात करता है। फिर, 'जब बच्चे कक्षा में नियंत्रण हासिल करने का परीक्षण करते हैं।' यह स्कूली शिक्षकों का एक लोकप्रिय मिथक है। एक बेवकूफी है। बच्चे कक्षा को नियंत्रित करने की बजाए नियंत्रण से निकलना चाहते हैं। बच्चे शरारत इसलिए करते हैं क्योंकि वे कक्षा से घृणा करते हैं और क्योंकि उनसे हमेशा उबाऊ और बेवकूफी के काम करने को कहा जाता है। अन्य समझदार लोगों जैसे ही बच्चे भी सीधी लाइन बनाकर फिजूल में नहीं खड़े रहना चाहते हैं। हां, कभी-कभी लाइन में खड़ा भी होना पड़ता है जैसे बस की या टिकट खिड़की की लाइन में। परन्तु यहां पर लाइन में आगे वाले को पहले टिकट मिलता है। परन्तु एक से दूसरी इमारत में, सीधी लाइन में चल कर जाना पूरी तरह मूर्खता है। फिलेडैल्फिया की बस्ती में काम कर रही एक अनुभवी शिक्षका ने मुझे बताया कि वैसे स्कूल को सीधी लाइनों की 'आवश्यकता' होती है परंतु उसने बरसों से अनदेखा किया है। वो घर जाने की छुट्टी के समय बच्चों को उनकी डेस्क पर ही बैठने देती है। फिर कभी अकेले, कभी चार-पांच बच्चों के समूहों को कक्षा से बाहर जाने देती है। कक्षा से कितने बच्चे एक-साथ बाहर जाएंगे, यह उनके शोर मचाने की क्षमता पर निर्भर करेगा। बच्चों को यह तरीका अधिक वास्तविक लगता है और उसे सफल बनाने में वे शिक्षका का सहयोग करते हैं। अगर बच्चे बहुत ज़्यादा शोर मचाएंगे तो कोई उनकी शिकायत करेगा और फिर वे और अधिक मुश्किल में फंसेंगे। इसलिए बच्चे ज़्यादा मुसीबत खड़ी नहीं करते। वे शिक्षका के साथ कोई होड़ नहीं लगाते। वे भी शिक्षका की तरह ही, कक्षा से निकल कर घर जाना चाहते हैं। बच्चों को अगर हम मौका दें तो वे बड़े समझदार होने का परिचय देते हैं।

स्कूल का प्रबंधन एकदम गैरज़िम्मेदार और ढीला था। उसने शिक्षक को यह तक नहीं बताया कि छुट्टियां खत्म होने के बाद उसे किस कक्षा को पढ़ाना होगा। शिक्षक ने कहा, 'क्योंकि मुझे बच्चों की सीखने की ज़रूरतों के बारे में इतना कम पता था इसलिए मैंने उन्हीं पाठों को चुना जिन्हें मैं पढ़ाने में सक्षम था।' क्या पहले का दूसरे के साथ

कोई संबंध नहीं है? बहुत से शिक्षक यही करते हैं।

शब्दविन्यास या हिज्जे? किन शब्दों के हिज्जे सिखाने हैं उन्हें जानने का सबसे अच्छा स्थान तो बच्चों के खुद के लेख हैं। अगर बच्चे लिख नहीं रहे हैं या फिर उनकी किसी चीज़ में इतनी दिलचस्पी ही नहीं है कि वे उसके बारे में लिखें तो यह एक अलग ही समस्या है। यह हिज्जों की समस्या नहीं है। शिक्षक के अनुसार बच्चे छठवीं कक्षा के स्तर की पुस्तके नहीं पढ़ पा रहे थे। हम निश्चित रूप से यह दावा कैसे कर सकते हैं? हमें यह भी पता है कि बहुत से बच्चे जिन्हें शहरी स्कूलों ने पढ़ने के अयोग्य पाया है दरअसल वयस्कों की पुस्तकें जैसे ***द आॅटोबाइऔग्रफीआॅफमैल्कौमएक्स, दफाॅयरनेक्सटटाइम*** आदि को आसानी से पढ़ते हैं। इसका एक ही सही तरीका है। बच्चे के समक्ष ऐसी पुस्तकें, पत्रिकाएं, लेख, या अखबार की कहानियां रखें जिनके बारे में बच्चा कुछ जानना चाहता हो। बाकी बच्चा खुद अपने आप करेगा। अगर उसे सहायता की आवश्यकता होगी तो वो उसे खुद खोजेगा।

वो एक घटना का विवरण देता है जब एक अच्छे पाठ में विघ्न पड़ा। 'कक्षा में सारी पढ़ाई अंग्रेजी में हो रही थी जिसका एक शब्द भी स्पैनिश बोलने वाले लड़के के पल्ले नहीं पड़ रहा था। उस लड़के ने उस समय अपनी डेस्क को साफ करने का इरादा बनाया।' शायद बालक ने उस समय चर्चा को अंत करने का निर्णय इसलिए लिया क्योंकि वो उसमें कोई भाग नहीं ले पा रहा था। कुछ देर बाद गणित की कक्षा में आग बुझाने वाले ट्रक के आने के कारण विघ्न पड़ा। क्या आग बुझाने वाले ट्रक, फायर-ब्रिगेड, या वो सरकारी संस्था जो आग बुझाने का काम करती है किसी सार्थक चर्चा का विषय बन सकते थे? क्यों न हम आने वाले अवसरों को उपयोग में लाएं? आग लगने से नुकसान होता है? कितना नुकसान? एक आग बुझाने वाले को कितना वेतन मिलता है? उसके काम का उपयुक्त वेतन क्या होगा? जो आदमी अपनी जान बाज़ी पर लगाता है उसे कितना वेतन मिलना चाहिए? फायरमैन बनने के लिए बच्चे कौन से प्रश्न पूछेंगे? अगर फॉयरमैन की जान चली जाए तो उसके परिवार को कितना मुआवज़ा मिलना चाहिए? एक परिवार को जीवनयापन के लिए कितने धन की आवश्यकता होती है? आदि।

वो आगे कहता है, 'मेरे बच्चे अपनी बाहर की जैकिट क्यों नहीं उतार रहे थे यह जानने में मुझे काफी समय लगा। बच्चों के अंदर के कपड़े पुराने और फटे थे जिससे उन्हें शर्म महसूस हो रही थी।' वो यह मालूम कर पाया उसके लिए उसे बधाई। परंतु बच्चों से जैकिट उतरवाने का शिक्षकों को हक कैसे मिला? मैंने बहुत सी कक्षाओं को पढ़ाया है और मैं कभी भी कक्षा की शुरुआत बच्चों के कोट उतरवाने से शुरू नहीं करूंगा। यह बच्चों का अपना निजी मामला है और अगर मैं उसमें दखल दूंगा तो बच्चों का गुस्सा होना स्वाभाविक होगा। इस मालमे में हम बच्चों को वो इज़्जत और आदर क्यों नहीं दे सकते जो हम किसी भी अन्य मनुष्य को देते हैं।

उसके छात्रों ने उससे कहा कि वो उन्हें अच्छा बनाने के लिए मारे-पीटे। इस बात पर मुझे कोई शक नहीं है। बच्चों को यह बात लोग सालों से बताते आ रहे हैं। पर उससे बात सच नहीं हो जाती, और हमें इसके सरासर झूठ होने का पता होना चाहिए। जो लोग बच्चों को यह बात सच बतलाते हैं वे बच्चों के साथ बहुत बड़ा अन्याय करते हैं और उन्हें नुकसान पहुंचाते हैं। वो आगे जाकर इस निर्णय पर पहुंचता है कि इन बच्चों के साथ आदर से पेश आना चाहिए। परंतु 'आदर' की उसकी परिभाषा बहुत विचित्र है। उसके अनुसार किसी का आदर करने का मतलब उसे आदेश देना है। आदेशों के पालन पर उसे पुरुस्कार देना और न मानने पर उसे सज़ा देना है। संक्षिप्त में बच्चों के साथ बराबरी का नहीं, पर एक गुलाम जैसा व्यवहार करना। इन बच्चों को वो मिलना चाहिए था जो उन्हें पहले नहीं मिला। शिक्षक उन्हें एक अलग प्रकार का आदर दे सकता था जिससे बच्चों को लगता कि वे कोशिश से एक समझदार और संवेदनशील इंसान बन सकते हैं। किसी का आदर करने का मतलब है उसपर विश्वास करना।

वो आगे काफी संतोष के साथ एक घटना का ज़िक्र करता है। एक दिन उसने पाठ से पहले एक बच्चों को तैयार करने के लिए एक लड़के की डेस्क को उठाकर उसका सारा सामान ज़मीन पर पटक दिया। मुझे यह कहानी बेहद अपमानजनक और घृणित लगी। उसके जवाब कि, 'उससे काम बन गया' के बारे में केवल यही कह सकता हूं कि बहुत सी बातों से काम बन जाता है। वैस नात्सी जर्मनी में भी 'काम बनता था'। अगर वो अपने आप से यह प्रश्न पूछता तो बेहतर होता - न्यूयार्क में रहने वाला प्यूरटो रिको के किसी भी समझदार बालक की मिस्त्र के फेरो के बारे में सुनने की रुचि क्यों नहीं होगी। इन बस्ती के बच्चों पर जिस प्रकार की बेहूदा और

निरर्थक शिक्षा थोपी जा रही है उसका वर्णन करने के लिए मुझे ऊपर का उदाहरण ही सबसे उपयुक्त लगता हैं। इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि बच्चे उसमें कोई रुचि नहीं लेते। वो आगे लिखता है, 'सत्र के शुरू में बच्चों की कापियों को फाड़ना, पेंसिलों को तोड़ना, उनके सामान को डेस्क से उठाकर ज़मीन पर फेंकना, शिक्षकों द्वारा किया बेहद क्रूर और पाशविक काम लगता।' परंतु शिक्षकों का काम वाकई में निर्दयी था। और अगर बच्चे उसकी मांग कर रहे थे, तो शायद बच्चों को किसी अन्य व्यवस्था का अनुभव ही नहीं होगा। क्या कुछ भिन्न और बेहतर व्यवस्थाओं से परिचय कराने का हमारा कर्तव्य नहीं बनता है? हमें बच्चों को सत्ता पर निर्भर होने से दूर करना चाहिए। बच्चों को उनका आज्ञाकारी-विद्रोही रोल त्यागना चाहिए और समझदार एवं स्वतंत्र इंसानों जैसे अपनी ज़िंदगी बसर करनी चाहिए।

बच्चों के लिखाई के विषय को मैं यहां नहीं लूंगा क्योंकि हरबर्ट कोल्ह की पुस्तक **३६ *चिल्ड्रन***, हारलेम में बच्चों की लिखाई की बेहद सुंदर व्याख्या करती है। क्योंकि गरीब बस्तियों के बच्चे मानक अंग्रेजी नहीं बोल पाते इस कारण वे 'बातचीत में अपंग' नहीं हो जाते। गरीब बस्तियों के बच्चों की बोल पाने की असमर्थता को लेकर कई मूर्ख बातें लिखी गई हैं। मेरा और अन्य लोगों का यह अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितियों में, विश्वस्नीय लोगों के सामने ये बच्चे, बड़ी कुशलता और धाराप्रवाह भाषा में बोलते हैं। पर इन बच्चों का विश्वास जीतना कोई आसान काम नहीं। इस विश्वास को हम वाक्य के अंत में विराम लगाने के सरल नियम सिखा कर नहीं जीत सकते हैं। अगर हम अर्धशिक्षित बच्चों को लिखना सिखाना चाहते हैं तो शुरुआत के लिए यह गलत बिंदु होगा।

बहुत से शिक्षक कक्षा में, बच्चों को बोलने के लिए प्रेरित नहीं कर पाते हैं। जो बच्चे शिक्षक जैसी भाषा में नहीं बोल पाते उन्हें शिक्षक नीचा समझते हैं। पिछले वर्ष मैंने येल विश्वविद्यालय में सफल छात्रों की एक बैठक में भाग लिया। स्कूल के सबसे निचले स्तर से ऊपर उठे इन नवयुवकों ने, कई घंटों तक कुछ व्यस्कों को अपने स्कूल की खामियों के बारे में बताया। सबसे अधिक आश्चर्य मुझे उन छात्रों की भाषा पर हुआ। जैसे-जैसे उन नवयुवकों को लगा कि हमें उनकी बातों में गहरी रुचि है और हम उनका कोई मूल्यांकन करने नहीं आए हैं वैसे-वैसे उनका बोलना का स्टाइल बदलता गया। जब उन्होंने बोलने की शुरुआत की तो उनको समझ पाना ही मुश्किल था, पर कुछ घंटों के बाद वे बड़े प्रभावशाली ढंग से बोल रहे थे और उनकी भाषा मानक अंग्रेजी के काफी समीप थी। इस प्रकार की घटना को अनुभव करने का मेरा यह पहला मौका नहीं था। न्यूयार्क में लोअर ईस्ट साइड ऍक्शन प्रोजेक्ट (लीप) में भी मैंने प्यूरटो रिको मूल के नवयुवकों को, कुछ वयस्कों के सामने अपनी समस्याओं, उम्मीदों और आकांशाओं को व्यक्त करते हुए सुना था। इन स्कूल के ड्रॉपआउट बच्चों को सुनकर कोई भी नहीं कह सकता था कि वे भाषा का प्रभावशाली उपयोग नहीं जानते। असल में उनके द्वारा इस्तेमाल की गई भाषा वहाँ पर मौजूद बहुत से पढ़े-लिखे लोगों की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली थी।

अपने लेख के अंत में मुझे लगता है कि इस शिक्षक को मेरे द्वारा कही बातों का कुछ अहसास हुआ। वो आगे लिखता है, 'पर जब कभी भी मैंने बच्चों की मनपसंद रुचियों की बात की तो उनकी उत्सुकता जाग उठी और उनका चेहरा खिल उठा। मैं एक बार कक्षा में ***ऑटोबाओग्राफीऑफमैल्कोमएक्स*** लेकर आया। मैंने बच्चों को बताया कि मैल्कोम ने अपना बचपना स्कूल से कुछ दूर ही गरीबी में बिताया था। पुस्तक का छोटा सा अंश पढ़ने के बाद ही बच्चे कूदने लगे और अपने प्रश्न और टिप्पणियां करने लगे। "क्या बिना किसी शिक्षक के मैल्कोम ने शिक्षा प्राप्त की?" "वो देखने में कैसे लगते थे" "उन्हें कहाँ पर गोली लगी"' ऐसा लगा कि जिस बातचीत के अवरोध का जिक्र शिक्षक आमतौर पर करते हैं वो पूरी तरह खत्म हो गया हो। आगे वो कहता है, 'बच्चों को लगा कि मैं पहले सावधानी से तैयार किया कोई पैकेज उन्हें नहीं थमा रहा था। बच्चों ने इस प्रकार उत्तर दिया जैसे उनके विचार और मतों से कुछ अन्तर पड़ा हो।' मैं आखिरी बात पर दुबारा बल दूंगा - ***बच्चों को लगा जैसे उनके विचार और मतों से कुछ अंतर पड़ा हो।*** इसी का नाम आदर है, बच्चों के सामान को ज़मीन पर पटकना और उनकी कापियों को फाड़ना नहीं। बच्चों को ऐसा लगे कि उनके विचारों से कुछ अंतर पड़ सकता है। अगर हम लोगों के साथ इस तरह बर्ताव करेंगे तो चाहें वो किसी पृष्ठभूमि, रंग या उम्र के हों, संप्रेषण की बाधाएं टूट जाएंगी और सीखने का माहौल बनेगा। यही बात हमारे हरेक स्कूल में होनी चाहिए - येल से लेकर हारलेम तक - पर दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम ही होता है।

1968

असंभव पढ़ाई को पढ़ाना

कुछ साल पहले देश में गरीबी उन्मूलन का काम शुरू हुआ और फिर शहर की झुग्गी-झोपड़ियों और बस्तियों में बढ़ रहे बच्चों के बारे में ढेरों लेख लिखे जाने लगे। ये लेख काफी अजीबो-गरीब किस्म के थे। हमें बताया गया कि बस्तियों के बच्चों को चीज़ों के नाम नहीं पता, चीज़ों के नाम होते हैं यह भी नहीं पता, यहां तक कि बच्चों को अपना नाम तक भी नहीं पता। हमें बताया गया कि क्योंकि इन बच्चों ने कभी सही भाषा सुनी ही नहीं है। उनके विचार और मतों से कुछ अंतर पड़ा है इसलिए वे दो-चार शब्दों के अलावा कुछ बोल भी नहीं सकते हैं। जिन लोगों ने ये बातें लिखीं वे गंभीर और संवेदनशील थे। उन्हें अपने लिखे हरेक शब्द पर विश्वास था। मैं भी अन्य लोगों की तरह ही उनकी बातों पर यकीन करने लगा।

किसी बच्चे को उसका नाम आता है या नहीं, इसका पता आप कैसे लगाएंगे? आप मुस्कुराते हुए नम्रता से उससे पूछ सकते हैं, 'तुम्हारा नाम क्या है?' अगर वो कोई जवाब नहीं देता है तो इसका अर्थ होगा कि वो अपना नाम नहीं जानता है। अगर आप उसका नाम पहले से जानते हों तो आप उसे उसके नाम से बुला सकते हैं। अगर वो अपना नाम सुनने के बाद भी कोई हरकत नहीं करता है, कोई उत्तर नहीं देता है तो आप इस नतीज़े पर पहुंचेंगे कि उसे अपना नाम नहीं पता। यह सरल है।

परंतु मिस्टर कोल्ह और अन्य लोगों ने दिखाया है कि तरीका इतना सरल नहीं होता है। आप बच्चों की हरकतों के आधार पर उनके बारे में कोई निर्णय ले सकते हैं। परंतु हो सकता है बच्चा आपके सामने कुछ भी न करने का मन बनाए। शायद उसे स्कूल जैसी अनजान जगह पर, अनजान लोगों के सामने कम-से-कम बोलना और न्यूनतम काम करना ही ठीक लगे।

मुझे 1943 में, न्यू लंडन में हुई सबमरीन आफीसर्स की ट्रेनिंग की याद आ रही है। वहां पर हम 270 छात्र-अफसर अपने शिक्षकों के सामने बैठे थे। ये शिक्षक सभी नौसैनिक कप्तान थे जिन्हें प्रशान्त महासागर से उनकी बहादुरी, ख्याति और उच्च ट्रेनिंग के लिए लाया गया था। 'हम आप लोगों को जानना चाहते हैं,' उन्होंने हम सबसे कहा। 'अगर आप हमें कभी आफिसर्स क्लब में देखें तो कृपा करके हमें अपना परिचय अवश्य दें और हमसे बात करें।' कुछ छात्रों ने इस सुझाव पर अमल किया। अनुभवी अफसरों ने वाकई में नए छात्रों का स्वागत किया और उन्हें अपने रोचक और जोखिम भरे अनुभवों के बारे में बताया। उनमें से कुछ न्यू लंडन में खुश नहीं था। वे दुबारा प्रशांत महासागर जाना चाहते थे। वे हमेशा नाराज़ और अधीर रहते - चाहें वो क्लास में हो, चाहें ट्रेनिंग वाले जहाज़ पर। जिन छात्रों का वो नाम जानते थे उन्हीं पर उन्होंने अपना रोष उतारा। उनको मेरा नाम नहीं पता था। जब मैं वहां से पास होकर निकला तो केवल एक ही अफसर मेरा नाम जानता था। वो स्कूल का एक पदाधिकारी था जिसकी अनुमति लेकर ही मैं हफ्ते के अंत में छुट्टी पर जाता था। मुझे सावधानी बरतने का भरपूर लाभ मिला। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि गरीब बस्ती के बच्चे, ऐसी जगह पर जहां सभी अनजान हों काफी सावधानी बरतते हैं।

हमारे शहरों की गरीब बस्तियों में स्थित स्कूल, अपने खराब माहौल के कारण बच्चों का विकास कम, विनाश अधिक करते हैं। उनकी कहानी को मिस्टर कोल्ह ने सुनाया है और उसे हमें बार-बार सुनने को मिलेगा। पर मैं यहां एक अन्य बिंदु पर ज़ोर देना चाहता हूं। मिस्टर कोल्ह की पुस्तक से आपको लग सकता है कि हम एक विशेष समस्या की बात कर रहे हैं - किस प्रकार हम गरीब बच्चों को प्रभावशाली ढंग से बोलना और साक्षर बनाएं। परंतु हमारे सबसे अच्छे स्कूलों की भी हालत कोई अच्छी नहीं है। उनमें से निकले अधिकांश बच्चे, बस्ती के गरीब बच्चों की तरह ही न तो ठीक से बोल पाते हैं और न ही अपनी मनपसंद चीज़ों के बारे में लिख पाते हैं। उन्हें जो लिखने का प्रशिक्षण मिलता है वो बहुत ही खराब होता है। हर साल अलग-अलग स्तरों के छात्र लाखों पन्ने लिखते हैं। इनमें से 95 प्रतिशत छात्र अपनी लिखाई की कोई परवाह नहीं करते हैं। वे कभी भी अपनी सच्ची राय नहीं लिखते हैं और अगर उन्हें बाध्य नहीं किया जाता तो शायद वो कभी लिखते ही नहीं। अंग्रेजी में हमेशा ऊंचे नंबर पाने वाली लड़की से मैंने पूछा कि क्या उसने अपने पुराने निबंधों को संजोकर रखा है। वो मेरी

ओर आश्चर्य से देखने लगी, 'भगवान के लिए यह बताएं, कि मैं उन्हें क्यों संभाल कर रखूं?'

आखिर क्यों? सर्वश्रेष्ठ कालेज से स्नातक की डिग्री लेकर निकले एक छात्र ने मुझे परीक्षा में ऊंचे अंक प्राप्त करने का गुर बताया। यह छात्र एकदम सामान्य था कोई क्रांतिकारी नहीं था। वो और उसके सभी साथी ऊंचे अंक प्राप्त करने के लिए प्रोफेसर के ही विचारों और मतों को ही, भाषा बदलकर परीक्षा में लिख आते हैं। अच्छे नंबर पाने का यह एक अचूक तरीका है।

स्कूलों और कक्षा में बेफजूल की बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। कक्षा में सफाई, काम में बारीकी, शिक्षक के घिसे-पिटे विचारों में आस्था को स्वतंत्र, मौलिक, ईमानदार विचारों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है। आज भी स्कूलों में हिज्जों और व्याकरण की छोटी-मोटी गल्तियों के कारण बच्चों को फेल कर दिया जाता हैं। निबंधों में बच्चों की मौलिकता का अन्य खूबियों का कोई मूल्यांकन नहीं होता। हाल ही में मेरी मुलाकात एक आठ-नौ बरस के लड़के की मां से हुई। लड़के ने एक साफ-सुथरा अच्छा निबंध लिखा था परंतु फिर भी उसे टीचर ने फेल कर दिया था। कारण - बच्चे ने निबंध को तीन अलग-अलग रंग के पेनों से लिखा था। यह घटना एक 'अच्छे' स्कूल में घटी। परंतु स्कूलों में बच्चों के भाषा को सरल, प्रभावशाली और सुंदर तरीके से नहीं उपयोग कर पाने का एक गहरा कारण है। यह सच है कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्राथमिक से लेकर स्नातक तक स्कूल बच्चों के खुद के सोच की बिल्कुल परवाह नहीं करते हैं। छात्रों को क्या पढ़ना है इसक एक तंत्र निर्णय लेता है। प्राथमिक और सेकण्डरी के शिक्षकों के मैन्युअल में स्पष्ट निर्देश होते हैं कि वे कक्षा में चर्चा के दौरान 'निम्न बिंदुओं को उभार कर सामने लाएं'। ऐसी चर्चा का क्या मतलब होगा?

अगर हमें बच्चों की लिखने की कुशलता को बेहतर करना है तो हमें सबसे पहले एक बात सीखनी होगी। बच्चा भाषा को हमेशा अपने तरीके से उपयोग करेगा, वो प्रभावशाली हो इसकी कोशिश करेगा। बच्चा भाषा का परीक्षण उन लोगों के साथ बात करके करेगा जो न केवल उसकी बात को सुनें परंतु जो उसके विचारों को भी गंभीरता से लें। इसका मतलब यह नहीं कि उसकी बात सुनते ही शिक्षक अपना वर्चस्व कायम करने के लिए उसके विचारों की धज्जियां उड़ाएं। इस मामले में सुकरात का तर्क-वितर्क का तरीका भी बच्चों के लिए गलत और घातक साबित होगा। जिन बुद्धिमान बच्चों को इस तार्किक दांव-पेंचों का अभ्यास नहीं होता उन्हें मूर्ख वयस्क भी इस वाद-विवाद में आसानी से हरा देते हैं। जो बच्चे 'शब्दों' के इस खेल में हार जाते हैं वो या तो कुछ समय के बाद खेलना ही बंद कर देते हैं या फिर वयस्कों द्वारा बनाए नियमों के अनुसार खेलते हैं। हमें इससे कुछ अलग बात को ही मानना होगा। शब्दों का उपयोग करते समय बच्चा उन लोगों से बात करता है जिनपर वो विश्वास करता है और जिन तक वो पहुंचना चाहता है। इसी तरीके के उपयोग से ही कोई नवयुवक छात्र शब्दों का बेहतर इस्तेमाल सीख पाएगा। इस बिंदु से शुरुआत के बाद छात्र को कुछ उपयोगी तकनीकों का ज्ञान दिया जा सकता है। परंतु यह आवश्यक है कि हम सही बिंदु से अपनी यात्रा शुरू करें नहीं तो हम कभी भी प्रगति नहीं कर पाएंगे।

एक अंतिम प्रश्न। इससे क्या फर्क पड़ेगा? अगर हमारे गरीब बच्चे, खासकर ब्लैक-गरीब बच्चे, अच्छी तरह से बोलना और लिखना सीख भी गए तो उससे क्या फर्क पड़ेगा? क्या हमें उन्हें ऐसी कुशलताओं का प्रशिक्षण नहीं देना चाहिए जिससे उन्हें नौकरियां मिल सकें और वे गरीबी के बंधन से मुक्त हो सकें? इसका उत्तर साफ है। केवल नौकरी के प्रशिक्षण से काम नहीं बनेगा। हमारे समाज में यह नितांत आवश्यक है कि गरीबों के बच्चे, विशेषकर ब्लैक गरीब बच्चे शब्दों को कुशलता से उपयोग कर पाएं। वे केवल कुछ संकेत और निर्देश भर पढ़ने लायक न बनें परन्तु उनमें शब्दों द्वारा अन्य लोगों को निर्देश की, उनसे काम करवाने की क्षमता विकसित हो। क्योंकि हमारा समाज अब एक निर्णायक मोड़ पर खड़ा है। हम या तो पूर्णत: संघटित समाज की ओर बढ़ सकते हैं जहां पर कोई रंग-भेद न हो और लोगों को उनकी चमड़ी के रंग के आधार पर नहीं परखा जाए; या फिर हम नात्सी जर्मनी के फासीवादी समाज, या वर्तमान में दक्षिण अफ्रीकी समाज की ओर अग्रसर हो सकते हैं। संक्षिप्त में, यह तो अमरीका के गोरे रंगभेद को त्यागें नहीं तो जल्द ही हमारे समाज की बची-खुची इंसानियत भी खत्म हो जाएगी। इस काम जो लोग हमारी मदद कर सकते हैं वे हैं पढ़े-लिखे ब्लैक लोग जिन्होंने रंगभेद की प्रताड़ना को

झेला है और जो हमें उसके प्रभावों के बारे में स्पष्ट रूप से बता सकते हैं। आज केवल चंद ही ब्लैक प्रतिनिधि हैं। उनकी संख्या किसी भी परिवर्तन के लिए बहुत कम है। जो बातें हमें चंद बाल्डविन, किंग, कारमाइकिल बताते हैं, उनकी बातें अगर हज़ारों, लाखों ब्लैक्स हमें बताएं तो बेहतर होगा। अगर बहुत से ब्लैक्स एक-साथ बोलेंगे तो उनकी एक सामूहिक आवाज़ होगी जो शायद हमारे अंदर रंगभेद की गहरी भावनाओं को जड़ से उखाड़ने में सहायक होगी। तब हम ब्लैक्स के दर्द के साथ-साथ अपनी ज़िम्मेदारियों को भी समझेंगें। पढ़ाई करने के साथ ही ब्लैक्स अपने साथ अन्य गरीब और उपेक्षित तबकों को भी संगठित करके एक राजनैतिक बल के रूप में उभर सकते हैं और हमारे समाज में कुछ आवश्यक बुनियादी परिवर्तन ला सकते हैं जिससे, पौल गुडमैन के शब्दों में, हमारा समाज शक्तिशाली नहीं, पर सभ्य बनेगा जिसमें सभी लोग घृणा, भय और अपराध भाव के बिना रह पाएंगें।

1967

## भविष्य के लिए शिक्षा

मेरी राय में जो होना चाहिए, मैं उसके बारे में लिख रहा हूं, न कि जो होगा। हमें हमेशा एक सुंदर भविष्य की उम्मीद करनी चाहिए। वैसे अभी मनुष्य इतना विवेकशील, दूरदर्शी, दानी, और विश्वस्नीय बना नहीं है कि वो अपने आपको खुद के बनाए दलदल में से उबार सके।

दूसरा, भविष्य के बारे में कुछ कह पाना बड़ा जोखिम भरा काम है, लेकिन फिर भी मैंने उसके बारे में लिखने की हिम्मत जुटाई हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद हमें बार-बार बताया गया था कि युद्ध खत्म होने के पश्चात का युग अमरीकियों का होगा और प्रत्येक अच्छे, धनी अमरीके के पिछवाड़े में एक हेलीकाप्टर होगा जिसमें वो अपनी मनमर्ज़ी के मुताबिक जहां चाहे जा सकेगा। मैं सबसे पहले काम से संबंधित समस्या का ज़िक्र करूंगा। सतही तौर पर ऐसा लगता है जैसे काम का नस्लवाद और शांति से कुछ लेना-देना ही न हो। परन्तु आजकल नौकरियां बहुत कम और अनिश्चित हैं और जो हैं भी इतनी उबाऊ हैं। काम को लेकर ही लोगों में जब इतनी उत्सुकता और रोष है, जो फिर नस्लवाद और शान्ति की समस्याओं का निदान और भी मुश्किल होगा। नस्लवाद के कारण आबादी की समस्या भी और जटिल हो गई है। दक्षिण की धनी सरकारों द्वारा, आबादी पर नियंत्रण लगाने के सही कदम का सारी दुनिया में विरोध हो रहा है। गरीब देश इसे गोरे लोगों द्वारा, काले-भूरे लोगों की संख्या पर अंकुश लगाने, और इस प्रकार उन्हें नियंत्रण में रखने की साजिश समझ रहे हैं।

अगर हम वियतनाम में अपनी सफलता को लाशों की गिनती से नापेंगे तब गरीब देशों के मूल्यांकन में भी कुछ सच्चाई होगी। जब हमने ही गरीब देशों पर युद्ध छेड़ा है तो फिर हम उनके ज़्यादा बच्चे पैदा करने की नीति को कैसे दोषी ठहरा सकते हैं।

इस प्रकार के सैकड़ों अन्य संबंधों को भी ढूंढा जा सकता है। हमें जो छोटी-छोटी समस्याएं दिखाई पड़ती हैं वो दरअसल एक बड़ी समस्या का अंश हैं। दुर्भाग्य से बड़ी समस्या को परिभाषित कर पाना बहुत ही मुश्किल होगा। उसकी चर्चा हम केवल छोटी-छोटी समस्याओं द्वारा ही कर पाएंगे।

हम उनकी कैसे सूची बनाएं? शायद सबसे पहले उन्हीं समस्याओं को गिना जाए जिनसे पूरा विश्व प्रभावित होता है जैसे - शांति और नस्लवाद। उसके बाद हम उन समस्याओं को लें जो हमारे विशेष समाज को प्रभावित करती हैं जैसे - काम और आराम, फिजूलखर्ची और पर्यावरण एवं स्वतंत्रता। कुछ को ऐसा लग सकता है कि मैं अपने मूल विषय से भटक गया हूं। शिक्षा पर चर्चा के समय हम भीड़ वाली कक्षाओं, शिक्षकों की कमी, पुरानी इमारतों, धन की कमी, शैक्षणिक सत्र और शैक्षिक तकनीकों आदि की बातें करते हैं। मैंने इन सब बातों को अलग रख दिया है क्योंकि मेरी राय में समस्याएं शिक्षा की नहीं, शैक्षिक संस्थाओं की हैं। यह सब बातें मात्र साधन हैं, उद्देश्य नहीं हैं। स्कूल कैसे काम करें इसे हमें यहां नहीं सोचना है। स्कूलों का काम क्या हो? शिक्षा का दुनिया की अन्य समस्याओं से क्या संबंध हो? हमें इन विषयों पर मनन-चिंतन करना है।

### शांति

हमें बार-बार यह लग रहा है, और इसी बात पर हम विश्वास कर रहे हैं कि शांति बनाए रखने के लिए और आणविक युद्ध टालने के लिए हमें 'आतंक का संतुलन' बरकरार रखना होगा। इस गतिरोध के काफी अच्छे नतीजे़ निकले हैं, ऐसे परिणाम जिनकी शांति के कार्यकर्ता कभी आशा भी नहीं कर सकते थे। परंतु इसपर हमेशा के लिए भरोसा करना एक भारी मूर्खता होगी। हमें अपनी दुनिया में कुछ बुनियादी परिवर्तन लाने होंगे जिससे कि विश्व की समस्याओं और उसमें मौजूद गैरबराबरी का समाधान निकल सके। इसके तीन प्रमुख कारण हैं। पहला, तकनीकी उन्नति से, युद्ध का गतिरोध कभी भी खत्म हो सकता है। दूसरा, जिसे बहुत बार दोहराआ गया है। जैसे-जैसे अन्य देशों के पास आणविक हथियार आएंगे वैसे-वैसे आणविक गतिरोध अस्थिर हो जाएगा। हम यह निश्चितता से नहीं कह सकते हैं कि चीनी, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, इसराइल और अरब देश, या काले और गोरे लोगों द्वारा शासित अफ्रीका के देश अपने आणविक हथियारों का, रूस जैसी सावधानी से ही उपयोग करेंगे। तीसरे कारण को कभी व्यक्त ही नहीं किया गया है। अमरीका और रूस को युद्ध से दूर रखने का पूरा श्रेय आणविक गतिरोध को दिया जाता है। परंतु सच्चाई यह है कि ऐसा कोई मुद्दा ही नहीं है जिसपर यह दोनों देश आपस में लड़ें। शुरू से ही इन दोनों देशों के बीच एक अवास्तविक लड़ाई थी जो असली मुद्दों पर आधारित नहीं थी। इसका कारण दोनों देशों के नेताओं का एक-दूसरे पर शक करना और उससे भय-त्रस्त होना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ***रीडर्सडायजेस्ट*** पत्रिका में छपा एक लेख मुझे याद है। उसका शीर्षक था, 'अमरीका और रूस के बीच शांति क्यों बनी रहेगी'। लेख के अनुसार दोनों देशों को एक-दूसरे की ज़मीन और साधनों की ज़रूरत नहीं है। दोनों देशों की सीमाएं अलग-अलग हैं जिससे लड़ाई की संभावना कम हो जाती है। दोनों देशों के हित भी लगभग एक-जैसे होने के कारण भी जंग की गुंजायश कम हो जाती है। यह लेख काफी सही था। युद्ध की समस्या भीषण आवेग से पैदा हुई और आवेग के कम होने के बाद उसे नियंत्रण में रखा जा सका।

तीसरे महायुद्ध का खतरा कहीं और है। यह खतरा समय के गुज़रने के साथ कम नहीं होगा। यह खतरा उन लोगों से पैदा नहीं होता जो थोड़ी सी देर के लिए एक-दूसरे से रूठ जाते हैं। यह खतरा काल्पनिक कारणों से नहीं पर दुनिया में असली गैरबराबरी और समस्याओं के कारण है। 1969 में लगता है कि दुनिया दो अलग-अलग खेमों में बंट गई है। विश्व के अधिकांश लोग पहले खेमे में हैं। वहाँ गरीब और अश्वेत लोग रहते हैं जो हर साल और गरीब होते जाते हैं। दूसरे खेमें में बाकी लोग रहते हैं, धनी और गोरे लोग। यही दोनों खेमों के बीच मनमुटाव का एक अहम कारण हो सकता है, परन्तु इसके अलावा और भी हैं। हमने अपनी अधिकांश दौलत को, बल या छल के ज़रिए अश्वेत लोगों से छीना है और अब इस धन को हम उन्हें वापिस देने को तैयार नहीं हैं। दूसरी ओर हम दुनिया के संसाधनों को साल-दर-साल अधिक तेज़ी से निगल रहे हैं। हमारे धनी होने के कारण दूसरे लोग गरीब हो रहे हैं। अंत में, सबसे महत्वपूर्ण बात है कि धनी, गोरे लोग नस्लवादी हैं। अधिकांश गोरे, अश्वेत लोगों से घृणा करते हैं, डरते हैं और नफरत करते हैं।

यह ऐसी स्थिति नहीं है जो समय के साथ बेहतर होगी। यथास्थिति भी नहीं बनी रहेगी। अगर सभी अश्वेत देश नए अफ्रीकी देशों के समान ही गरीब और असंगठित हुए तो वो आने वाले भविष्य में बहुत समय तक गरीब, अशिक्षित और सत्ताहीन बने रहेंगे। उन्हें भी दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश अश्वेतों जैसे दबाकर रखा जाएगा। पर इतना ही काफी नहीं है। दूसरी तरफ चीन भी है। चीन के अलावा अन्य कई देश हैं जिनके पास किसी दिन अपने आणविक, रासायनिक और जीवाणु हथियार होंगे। इससे दुनिया में युद्ध की रेस छिड़ जाएगी जिसकी परिणति या तो किसी भयानक आणविक विस्फोट में होगी या फिर लंबे अर्से तक चलने वाले वियतनाम युद्ध जैसी होगी।

इससे बचने के लिए और स्थाई शांति के लिए हम अपने भाग्य और आणविक गतिरोध पर भरोसा नहीं कर सकते। हमें नस्लवाद को खत्म करना होगा और दुनिया के संसाधनों को सही तरीके से बांटना होगा जिससे दुनिया में गरीबी खत्म हो। हमें विश्व के अधिकांश आणविक एवं अन्य हथियारों को भी नष्ट करना होगा और राष्ट्रीय एवं अंर्तराष्ट्रीय मतभेदों के समाधान के लिए युद्ध से अलग कोई सभ्य तरीका खोजना होगा। इस कार्य को पूरा करने में काफी वक्त लगेगा और विश्व शांति को इसके पूरे होने तक इंतज़ार नहीं करना चाहिए। पर इस कार्य को पूरा करने के लिए गंभीरता से काम करना चाहिए।

इस कार्य का शिक्षा से क्या लेना-देना है? हमें अपने स्कूलों में एक ऐसी पीढ़ी को तैयार करना है जहाँ से

निकले नागरिकों में इस कार्य को करने की समझ हो और उनमें कुछ ऐसे विशेषज्ञ निकलें जो इस काम को गंभीरता से करें। परन्तु इसे करना तो सरल है; असली काम तो इससे बिल्कुल भिन्न है। उसका विषय-वस्तु, पाठ्यक्रम और सीखने से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका सम्बन्ध इंसानों के दिल और उनकी भावनाओं से है। एक बार 'शिक्षा और शांति' पर निबंध में मैंने लिखा था कि:

शांति के हमारे तमाम प्रयास तब तक विफल होंगे जब तक हम युद्ध के मूल कारण को नहीं समझेंगे। युद्ध का कारण वो लोग हैं जो अपने जीवन में रोज़मर्रा इकट्ठे हुई निराशा, जलन, भय, गुस्से, नफरत आदि के लिए अन्य लोगों और देशों को दोषी ठहराकर उन्हें बली का बकरा बनाते हैं। जो आदमी अपने काम, अपने मालिक, अपने पड़ोसी से नफरत करता होगा वो अपनी स्वतंत्रता, कुशलता, आत्मसम्मान के अभाव के लिए अन्य लोगों को कष्ट पहुंचाने और मारने का काम करेगा।

इस समय की सबसे बड़ी चुनौती बच्चों को ऐसे विकसित करना है जो वयस्क बनने पर किसी को नुकसान पहुंचाना नहीं चाहें। हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि परंपरागत शिक्षा ने इस समस्या को हल करना तो दूर, इससे जूझने की कभी कोशिश भी नहीं की है। उसने हमेशा इसकी विपरीत दिशा में ही काम किया है। परंपरागत शिक्षा ने हमेशा बच्चों को ऐसे वयस्क बनाने का प्रयास किया है जो अपने नेताओं के कहने पर अन्य लोगों को अपना दुश्मन मानें, उनसे नफरत करें और उन्हें मारने की कोशिश करें। कुछ समाज ऐसे हैं जहां बच्चों में शुरू से ही नफरत, दुश्मनी, घृणा और युद्ध के बीज नहीं बोए जाते, जहां हरेक अजनबी को दुश्मन नहीं समझा जाता है। परंतु यहां पर भी बच्चों को यह नैतिक शिक्षा नहीं दी जाती है कि जैसा बर्ताव हम अपने पड़ोसियों के साथ करें वैसा ही व्यवहार हमें सम्पूर्ण मानवता के साथ करना चाहिए।

जिस नैतिक संहिता के साथ लोग जीते हैं उसमें हमेशा बच निकलने का एक नियम होता है, जिसका उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप में नहीं होता। एक तरह से यह नैतिक संहित हमारे दस धर्मादेशों की तरह ही है जो कहते हैं कि: तुम किसी को जान से नहीं मारोगे, तुम चोरी नहीं करोगे, तुम किसी की चीज़ को खराब नियत से नहीं देखोगे, तुम झूठी गवाही नहीं दोगे आदि। परंतु इन धर्मादेशों में आगे एक बात और जुड़ी होती है। यह नियम, कानून केवल अपने ही लोगों पर, अपनी नस्ल, अपने राज्य, अपने धर्म के लोगों पर ही लागू होंगे। पर जब हम अन्य लोगों, अजनबियों की, दूसरे धर्म के लोगों की, नास्तिकों की बात करेंगे तब आप इन आचार-संहिता को थूक कर जो चाहें करने को स्वतंत्र होंगे। तब झूठ, चोरी, धोखाधड़ी, कत्ल, नष्ट, अत्याचार सब माफ होंगे और आप जितना अधिक कहर ढाएंगे उतना ही अच्छा होगा। (जब मैंने यह लिखा उस समय तक अमरीका के गोरे लोगों ने वियतनाम के मर्द, औरतों और बच्चों पर नापाम और सफेद फासफोरस जैसे भीषण कातिलाना रसायन को फेंकना नहीं शुरू किया था। उस समय मुझे लग रहा था कि अमरीका वाहियाती की इस गर्त तक नहीं गिरेगा।)

इंसानी समाजों को अभी तक लोगों के अत्याचार करने की इच्छा - इंसानी दुष्टता के इस पक्ष से जूझने का अवसर नहीं मिला था। एक सीमित दायरे में आचार-संहिता ने ठीक-ठाक काम इसलिए किया क्योंकि दुनिया में हमेशा ऐसे लोग थे जिनसे आप दिल भर कर नफरत कर सकते थे और जिन्हें आप जो चाहें कष्ट पहुंचा सकते थे। आचार-संहिता से निकलने के द्वार के बावजूद इंसानियत इसलिए आगे बढ़ी क्योंकि दुश्मनों को, अजनबियों को मारने के लिए मनुष्य के पास तब बहुत सीमित साधन थे और मनुष्य जाति अपना अधिकांश समय जीवनयापन के साधनों को जुगाड़ने में ही खर्च करती थी।

पर अब यह सब कुछ बदल चुका है। हज़ारों, लाखों, करोड़ों लोगों को कत्ल करना, पृथ्वी पर सब जीवों को खत्म करने की क्षमता अब हाथ में है। और यह हथियार बहुत मंहगे भी नहीं हैं। जो आदमी अपनी ज़िंदगी की कोई कद्र नहीं करता उसके लिए किसी भी जीवन का कोई मूल्य नहीं होता। वो अगर अपने पिछवाड़े में बम न बना पाए परंतु वो वोट से, या उसके बिना भी अपनी सरकार को बम्ब बनाने और उसका उपयोग करने के लिए उकसा सकता है। हमें इंसानियत को पूरी तरह तबाह करने के लिए अधिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता नहीं है। इन सभी घातक बमों और हथियारों को नष्ट करने और उनका कभी भी निर्माण नहीं होने देने के लिए बहुत से लोगों को सामूहिक और अथक प्रयास करना होगा। जो लोग इसमें सक्रिय भागीदारी नहीं निभाएंगे, वो इस काम में रोड़ा बनेंगे और धीरे-धीरे करके पूरी मानवता और पूरा संसार मृत्यु की कगार पर आ खड़ा होगा।

इस पृष्ठभूमि में हम समरहिल के संस्थापक ए. एस. नील की दलील पर नज़र डालेंगे। नील के अनुसार शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है ऐसे लोगों को बनाना जो अपने जीवन से खुश हों। इस दलील को हम भावनात्मक मज़ाक न समझकर इसे गंभीरता से लें। मनुष्यता के जीवित रहने के लिए हमें ऐसे लोग बनाने होंगे जो अपने जीवन को संपूण रूप में जीना चाहते हों, जो अपने जीवन को सार्थकता और खुशहाली से भरना चाहते हों। इसलिए यह बेहद आवश्यक है कि हम घर में और स्कूल में बच्चों को स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और आदर दें।

इसलिए अगर हम शान्ति के लिए प्रभावशाली ढंग से काम करना चाहते हैं तो उसके लिए हमें किसी एक विशेष सीखने की पद्धति की ज़रूरत नहीं है। हमें आवश्यकता है अपने दिल और दिमाग को खोलने की, उनमें एक गुणात्मक परिवर्तन लाने की। धनी देशों द्वारा हर वर्ष गरीब देशों के विकास में कमी करने का कारण उनकी अज्ञानता नहीं, बल्कि उनकी इच्छा शक्ति का अभाव है। दुनिया में तकनीकों और साधनों की कमी नहीं, संवेदना और हमदर्दी का अभाव है। और इन भावनाओं का स्कूल में विकास नहीं होता है। हम बच्चों को डरा-धमका कर, सजा देकर, अन्य बच्चों के साथ उनसे चीज़ें बांटने को कह सकते हैं। परन्तु इससे बच्चों में औरों के प्रति सहानभूति पैदा नहीं होंगी। स्कूलों में स्वतंत्रता, आदर और विश्वास का वातावरण पैदा करके ही हम बच्चों में सच्ची दयालुता और सहानभूति विकसित कर पाएंगे।

नस्लवाद

रूस और इंग्लैण्ड में नस्लवाद अपना सिर उठा रहा है। यह दुनिया के धनी, गोरे देशों के लिए एक गंभीर समस्या है। शायद ही दुनिया का कोई ऐसा गोरा देश हो जहाँ यह समस्या मौजूद न हो। जहां ज़्यादा अश्वेत लोग हैं वहां यह समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है। अमरीका में विशेष तौर पर यह समस्या काफी गंभीर है, इसलिए नहीं क्योंकि अमरीका सबसे अधिक नस्लवादी देश है बल्कि इसलिए क्योंकि अमरीका सबसे धनी और शक्तिशाली राष्ट्र है। प्रश्न यह है: हम नस्लवाद को अंत करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में क्या करें? इसके लिए सुप्रीम कोर्ट, नस्लवाद का विरोध करने वाले सभी गोरे, और सभी ब्लैक्स की एक उत्तर पर सहमति है: स्कूलों को संघटित (इंटेगरेट) करने पर। (इसे मैंने 1965 में लिखा था। परन्तु तब से समय बदला है। इसके लिए अगले दो पृष्ठ पढ़ें।) मैं अन्य लोगों की अपेक्षा इस काम को तत्काल होते देखने का इच्छुक हूं। हो सकता है कि मेरे कारण अन्य लोगों से कुछ भिन्न हों।

अगर आप इंटेगरेटिड शिक्षा में विश्वास करने वाले किसी व्यक्ति से पूछेंगे कि स्कूलों में क्यों इंटेगरेशन होना चाहिए तो आपको यह जवाब मिलेगा, 'क्योंकि उसके बिना नीग्रो बच्चों को कभी समान स्तर की शिक्षा नहीं मिल पाएगी।' मुझे इस कारण के सबसे महत्वपूर्ण होने पर शक है। मुझे यह तर्क सच नहीं लगता है। हमें अपने गोरे बच्चों के लिए सबसे पहले इंटेगरेशन चाहिए न कि नीग्रो बच्चों के लिए। इस देश में नस्लवाद गोरे लोगों की बीमारी है, नीग्रो लोगों की नहीं। अगर इस बीमारी को हमने पनपने दिया तो एक दिन यह नासूर बनकर हमारी स्वतंत्रता को नष्ट कर देगी और हम नस्लवाद के युद्ध में झोंक देगी। इसी लिए गोरे लोगों को इस बीमारी का इलाज करना चाहिए। इसका शायद एक ही तरीका है। हम एक-दो पीढ़ियों को इस प्रकार की शिक्षा दें जो नस्लवाद के वायरस से मुक्त हों। इसके लिए यह बेहद ज़रूरी है कि सभी गोरे बच्चे बड़े होने के साथ-साथ लगातार नीग्रो बच्चों के संपर्क में आएं। अगर हम इस दृष्टिकोण से देखें तो हमें साफ लगेगा कि यह समस्या बहुत अधिक नीग्रो बच्चे होने की नहीं, शायद बहुत कम नीग्रो बच्चे होने की है।

मुझे नीग्रो बच्चों के लिए इंटेगरेटिड शिक्षा सबसे अच्छा हल नहीं लगता। मुझे लगता है बहुत लंबे अर्से से अमरीका में गोरे लोगों और नीग्रो लोगों के बीच के रिश्ते एक धनी औपनिवेशिक सत्ता और एक गरीब, अविकसित, शोषित देश के बीच के रहे हैं। अंतर केवल इतना है कि यहां पर दो अलग देश नहीं हैं। यहां गोरे और नीग्रो एक ही देश में हैं। हाल में कई वर्षों से नीग्रो प्रयासरत रहे हैं कि गोरे उन्हें देश से पलायन करके उनके मातृ-देश में जाने दें। परंतु यह प्रयास असफल रहा है। नीग्रो लोगों को अब साफ तौर पर लग रहा है कि उन्हें उनके अविकसित देश को छोड़ने नहीं दिया जाएगा। उनके पास अब एक ही विकल्प बचता है कि वे अपने देश का विकास करें। परंतु इंटेगरेटिड स्कूलों में, नीग्रो बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा मिलेगी उसके द्वारा वो इस

कार्य को पूरा कर पाएंगे इस बारे में शक है।

मुझे एक उदाहरण याद आता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व राजनीति पर ढेरों पुस्तकें छपीं। उनमें से अधिकांश पुस्तकों को बदलते घटनाक्रमों ने फौरन गलत साबित किया। परन्तु एक पुस्तक ने उस काल को बेहद सुंदर ढंग से चित्रित किया। इस पुस्तक को एडमंड टेलर ने लिखा है और इसका नाम है ***रिचर बाई एशिया***। हरेक शांति चाहने वाले इंसान को इसे पढ़ना चाहिए। इसके एक यादगार अंश में टेलर, एक नौजवान भारतीय डाक्टर के साथ हुए वार्तालाप को लिखते हैं। पश्चिम में मिली ट्रेनिंग ने उस डाक्टर को भारत में लोगों की सेवा करने के लिए अयोग्य बना दिया था। भारत जैसा गरीब देश पश्चिमी दवाओं की कीमत का बोझ नहीं उठा सकता था। हाँ, ब्लैक अमरीका भारत जितना तो अविकसित नहीं है, परन्तु फिर भी वहां की गरीब उन मंहगी दवाओं को खरीदने में असमर्थ होंगे, जिन्हें अमरीकी गोरे आसानी से खरीदते हैं। अमरीका को सहानुभूति वाले डाक्टरों की ज़रूरत है - ऐसे सामान्य डाक्टरों की जो घर-घर जाकर रोगियों का इलाज करें और उनसे बहुत ऊंची फीस न वसूलें।

अमरीका के शहरों और गांवों में, अधिकांश नीग्रो, गरीब बस्तियों और झुग्गी-झोपड़ियों में रहते हैं। इन बस्तियों को कौन ठीक करेगा, रहने लायक बनाएगा? साफतौर पर गोरे इसके लिए धन नहीं देंगे, और नीग्रो लोगों के पास वैसे ही धन का अभाव है। इसलिए अन्य अविकसित देशों के लोगों की तरह ही, नीग्रो लोागों को भी तमाम कार्यों जैसे - बिल्डिंग बनाना, व्यापार और बैंक चलाना, खुद को और अपने बच्चों को शिक्षा देना आदि कामों को कम-कीमत में खुद करना सीखना होगा। क्या वो यह कर पाएंगे? क्या वो गोरे अमरीकी स्कूलों में यह सब कुशलताएं सीख पाएंगे? मुझे यह सम्भव नहीं लगता। शायद कुछ थोड़े से नीग्रो, शहर से दूर के इलाकों में कोई मकान खरीदें। वैसे गोरे इस पर भी आपत्ति उठाएंगे। परंतु ऐसा होने से बाकी नीग्रो लोग वहीं के वहीं अकेले, पहले जैसे नेतृत्व विहीन रह जाएंगे। संक्षिप्त में गोरे स्कूल चंद बाहर से आए नीग्रो लोगों को अवश्य प्रशिक्षित करेंगे परंतु ये लोग नेतृत्व का भार नहीं उठाएंगे।

मुझे लगता है कि स्कूलों और समुदायों में इंटेगरेशन द्वारा हमारे समाज में नस्लवाद की समस्या का अंत नहीं होगा। मेरी राय में इंटेगरेशन अब एक असम्भव और अनउपयोगी उपाय है। अल्पकाल में उसके उद्देश्य भी शायद सही नहीं हैं। नीग्रो लोग अपने हितों को ध्यान में रखते हुए इंटेगरेशन को नहीं चाहते हैं। अधिकांश गोरे लोग इंटेगरेशन को बर्दाश्त नहीं करेंगे और उसे बन्द करने के लिए कोई भी जुर्म करने को तैयार होंगे।

हमें एक बिल्कुल अलग चीज़ के लिए काम करना चाहिए। शुरू का 'मेल्टिंग पौट' (उफनती कड़ाही) वाला अमरीकी आदर्श, ***रिचर बाई एशिया*** के लेखक टेलर के अनुसार धीरे-धीरे करके विश्व स्तर पर अब 'सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' बन गया है। टेलर की राय में विश्व में तब तक शान्ति नहीं हो सकती है जब तक पश्चिम के देश अपने आपको 'सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' से मुक्त नहीं करते और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के साथ सौहार्दपूर्ण ढंग से जीना नहीं सीखते। अमरीकी दक्षिण-पंथियों की प्रिय कानून-व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए भी अब समाज में शांति, स्वतंत्रता और न्याय का होना अनिवार्य हो गया है। यहाँ पर अब अमरीकी जीवन पद्धति की बात करना ही गलत होगा क्योंकि बहुत कम लोगों को ही यह उपलब्ध है। अब हमें अमरीकी ***पद्धतियों*** की बात करनी होगी, जिसमें एक ही देश में अलग-अलग संस्कृतियां साथ-साथ एक-दूसरे का आदर करते हुए फलेंगी-फूलेंगी और जहां कानून व्यवस्था सभी को समान सुरक्षा प्रदान देगी। ये अलग-अलग संस्कृतियां बाद में कभी एक-दूसरे में मिल जाएंगी, या नहीं, यह मेरे लिए कहना मुश्किल होगा। मुझे अपने जीवनकाल में ऐसा होना संभव नहीं लगता है, और न ही मैं ऐसा होने के पक्ष में हूं। यह प्रश्न अभी बहुत दूर है। अगर हम एक बहु-संस्कृतीय समाज बना सकें जिसमें नीग्रो और अन्य लोगों की जीवन पद्धति का कानून समान रूप से आदर करे, तो यह काम ही हमें बहुत समय तक व्यस्त रखेगा।

मुझे लगता है कि जो नीग्रो लोग अपने बच्चों को गोरे बच्चों के साथ स्कूल भेजना चाहते हैं उन्हें ऐसा करने देना चाहिए और गोरों को, नीग्रो लोगों के इस अधिकार को मानना चाहिए। पर एक बात इससे भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि नीग्रो बच्चे लम्बे समय तक, उनके लिए अलग से बने विशेष स्कूलों में जाएंगे इसलिए नीग्रो समुदाय को

ही उन्हें नियंत्रित करना चाहिए। हमने बहुमत से गोरे अमरीका में काले लोगों को घुसने न देने का निर्णय लिया है और नीग्रो लोगों को एक अलग देश में रखा है। इसलिए अब हमें तीन सौ साल पुराने इस उपनिवेश का शोषण बंद करना चाहिए और उसे अपनी ज़रूरतों के हिसाब से विकसित होने देना चाहिए।

काम और आराम

मैं यहां काम को आम आदमी के संदर्भ में उपयोग कर रहा हूं – जिसे आप धन कमाने के लिए करते हैं। भविष्य में काम के संबंध में दो बातें स्पष्ट हैं। धीरे-धीरे काम कम होगा और जो होगा भी वो भी काम जैसा कम लगेगा। लोग अपने जीवन को काम द्वारा ही परिभाषित करते थे। पहले, काम के लायक होने के कारण अन्य लोग उनसे काम करवाते थे और कभी-कभी उन्हें काम के लिए पैसे भी देते थे। दूसरे, क्योंकि वे काम करते थे इसीलिए वे उपयोगी थे। परन्तु आज बहुत से लोग काम करने के लिए तो तैयार हैं परन्तु उन्हें कोई पैसे देने वाला नहीं है। जो लोग काम करते भी हैं उन्हें भी अपने काम से कोई आत्मसम्मान नहीं मिलता है। अगर उन्हें पैसों की ज़रूरत नहीं होती तो वे कभी भी उस काम को नहीं करते। मशीन आपरेटर अब सिर्फ मशीन की देखभाल करने वाला बन गया है। पहले एक कुशल कारीगर अपने काम के लिए मशीनों का, जटिल औज़ारों का इस्तेमाल करता था। परंतु अब वो केवल मशीन में माल डालने का काम करता है। कारीगर अब मशीन का नौकर बन गया है। वो अब मशीन की मर्ज़ी के हिसाब से काम करता है – जैसे कोई छोटे बच्चे की देखभाल करता है। बच्चे के मुंह में बोतल डालने का और जब वो रोए तो उसे थपथपाने का। डब्लू. एच. फेरी ने भविष्य के कामकाज की एक बहुत सटीक परिभाषा दी है – रात को चौकीदारी का काम। आदमी अब बहुत जटिल मशीनों की देखभाल करेंगे। अगर सब काम ठीक प्रकार चल रहा होगा तो वहां खड़े आदमी को कुछ भी नहीं करना होगा। जब कभी कुछ गड़बड़ होगी तभी वहां खड़े आदमी को कुछ करना होगा। भविष्य में आगे ऐसी गलती न हो यह काम भी कोई दूसरा व्यक्ति देखेगा। ऐसे काम में भला कैसे मज़ा और संतोष मिले। (हाल ही में मैं एक मोटरकार बनाने वाले कारखाने की असेम्बली लाइन से गुजर रहा था। वहां पर काम करने वाले एक मज़ंदूर ने मुझे बताया कि वहां लगभग 80 प्रतिशत मज़दूर, अपने उबाऊ काम से निजात पाने के लिए नियमित रूप से ऐमफेटेमीन्स की गोलियां खाते हैं।)

हम इनके और बढ़ने की ही उम्मीद कर सकते हैं, कम होने की नहीं। अगर ऐसा होगा तो अधिकांश लोगों को दो तरह की समस्याओं से निबटना होगा: अपने काम और जीवन को सार्थक कैसे बनाएं और अपने खाली समय में क्या करें। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है – ऐसे काम करना जो सच में करने योग्य हों। शिक्षा का एक बेहद महत्वपूर्ण अंग करने योग्य कामों को खोजना होगा। स्कूल ऐसे स्थान हों जहां पर बच्चों और वयस्कों को बहुत सारी चीज़ें करने का मौका मिले और साथ में वो क्या सबसे ज़्यादा करना चाहेंगे उसे भी खोजने का अवसर मिले। मैं यहां पर करने पर विशेष बल दे रहा हूं। आज स्कूलों में बच्चे कुछ ***करने*** में बहुत कम समय ही बिताते हैं। बच्चे अपना ज़्यादातर समय जानकारी हासिल करने में, उसकं प्रमाण एकत्रित करने में और बाद में उसे लिखकर दिखाने में ही बिताते हैं। कभी-कभी बच्चे कला, हस्तकला, खेलकूद, नाटक, नाच-गाना भी कर लेते हैं। परंतु स्कूल बहुत कम बच्चों को ही इनमें से किसी भी विषय पर गंभीरता से काम करने का समय दिया जाता है। जो बच्चे इन चीज़ों को गंभीरता से सीखना चाहते हैं वो उन्हें स्कूल के बाहर ही सीख सकते हैं और वो भी मंहगी फीस देकर। जिन बच्चों के मां-बाप फीस नहीं दे सकते या जो समुदाय इन विशेष संस्थाओं का खर्च नहीं उठा सकते वे बच्चे इन अनुभवों से वंचित रह जाते हैं। इससे बच्चों के मस्तिष्क और आत्मा में एक गहरा सूनापन उत्पन्न होता है और इसका लाभ मनोरंजन इंडस्ट्री के तमाम व्यापारी उठाते हैं। अभी तक न जाने कैसे काम चल गया है परंतु इसके आगे चलने की उम्मीद नहीं है। जिस प्रकार की गम्भीर रुचियों का आनंद आज समाज का एक छोटा सा वर्ग उठाता है उसे हमें अधिकांश लोगों के लिए उपलब्ध कराना होगा। तभी लोगों की ज़िंदगी जीने के लायक बन पाएगी।

मैंनें कुछ गतिविधियां सुझाई हैं। परन्तु उन्हें मेरे सुझावों तक ही नहीं सीमित किया जाए। बहुत से लोग बड़े संतोष के साथ न केवल अपने बाग-बगीचे को सुंदर बनाएंगे परंतु अपने आसपास के परिवेश में भी खुशी से

पेड़-पौधे और फूल लगाएंगे। मुझे अभी भी उस बात को सोच कर खुशी मिलती है जब मैंने अपनी बहन के घर के पास कुछ पेड़ लगाए थे। मैं उन पेड़ों को अभी भी साल में एक बार जाकर देखता हूं। परंतु अगर मैं उन्हें दुबारा कभी भी न देखूं तो भी उनको लगाने की मेहनत और समय एक अच्छे काम पर खर्च हुआ। मुझे मालूम है कि वे पेड़ उस ज़मीन पर लगे हैं जहां उनकी बहुत ज़रूरत है।

मेरी कला में विशेष रुचि है। मुझे कला और हस्तकला दोनों मे सोचने-विचारने, प्रयास, अनुशासन और विकास की बहुत सी सम्भावनाएं नज़र आती हैं। ये ऐसे कुंए नहीं हैं जिनका सारा पानी पीकर कुंए को सूखा किया जा सके। इनसे लोग जल्दी थकेंगे नहीं। ये गेंद फेंकने के खेल जैसा नहीं है जिसमें कि पांच दिनों तक, आठ घंटे रोज़ गेंद फेंकने के बाद कोई पूरी तरह ऊब जाए। इनसे एक अलग तरह का संतोष प्राप्त होगा। जब लोग कोई अच्छा काम करते हैं तो कड़ी मेहनत से उन्हें तत्काल संतोष मिलता है। दूसरों को मुनाफा कमाने में मदद करने से कभी भी असली संतोष नहीं मिलता है।

जिन गतिविधियों में लोग कोई धन नहीं कमाते, जिन्हें लोग केवल गतिविधियों की योग्यता के लिए करते हैं, उनमें लोग अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा और कुशलताओं का उपयोग करते हैं। बड़ी और बेहतर रुचियों और शौक से ज़िंदगी नहीं बनती। काम में चुनौती, उसे बेहतर और सुंदर तरीके से करने की लगन होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बिजली से चलने वाले औज़ारों को खरीदकर उनसे हफ्ते में पांच-छह दिन खुशी-खुशी किताबें रखने के शेल्फ बना सकता है या फिर खराद मशीन पर पुरानी लकड़ी से लैम्प स्टैन्ड बना सकता है। यह तब ठीक होगा जब उस आदमी का का प्रमुख काम या धंधा इससे अलग होगा। क्योंकि हफ्ते में तीस, चालीस या पचास घंटे काम करना पर्याप्त नहीं होगा, उससे काम नहीं बनेगा। उसे कुछ ऐसी चीज़े बनाने की कोशिश करनी होगी जो सच में बहुत सुंदर हों। उसे किसी चित्रकार की भांति अपने काम को उत्कृष्ट बनाने का लगातार प्रयास करना होगा, जिस तक वो शायद कभी पहुंच न सके। अगर वो ऐसा नहीं करेगा तो वो जल्दी ही ऊब जाएगा, और जैसा आजकल अक्सर होता है उसके सारे मंहगे औज़ार वर्कशाप में पड़े रहेंगे और उनमे जंग लगेगी।

ऐसे कई तरीके हैं जिनसे लोग दूसरों की मदद कर सकते हैं। अगर मान लो हम ने अपने विवेक से गरीबी को खत्म भी कर दिया फिर भी समाज में बहुत से ऐसे लोग होंगे जिन्हें सहायता की ज़रूरत होगी - बीमार, रोगी, अपंग, वृद्ध और मानसिक रोगों से पीड़ित लोग। अगर हमारे स्कूलों की हालत ऐसी ही रही तो बहुत से लोगों की इन कार्यों को करने में रुचि नहीं होगी। आज स्कूलों में हम ऐसे लोग ही विकसित कर रहे हैं जिनका उद्देश्य किसी भी तरीके को अपनाकर जीवन में, दूसरों से आगे बढ़ना है। संक्षिप्त में, स्कूल ऐसे समुदाय बनें जहां पर बच्चे भाषणों से नहीं, बल्कि वास्तविक काम करके और जीवन जीकर अन्य लोगों की आवश्यकताओं के प्रति चेतना और सहानभूति हासिल करें। ऐसे स्कूलों को काल्पनिक मॉडल नियम-कानूनों के ज़रिए नहीं स्थापित किया जा सकता है। इन स्कूलों में बच्चे क्योंकि अपने काम की इज़्जत करेंगे इसीलिए वे दूसरों के काम का भी आदर करेंगे। यहाँ वे प्रयास करेंगे कि स्कूल ऐसा स्थान हो जहां सभी लोग अपनी मनमर्ज़ी के काम को अच्छी तरह से कर पाएं।

## गरीबी, कचरा और पर्यावरण

यह समस्याएं न केवल आपस में जुड़ी हैं परंतु इनका अन्य समस्याओं से भी गहरा संबंध है। इसलिए इनको अलग-अलग करके इनके बारे में बात करना संभव न होगा। जिस लालच के कारण पर्यावरण को खतरा है उसी की वज़ह से गरीबी को समाप्त करना मुश्किल है। कुछ दिनों पहले किसी ने एक पत्रिका में गारंटीशुदा राष्ट्रीय आय के विरोध में एक पत्र लिखा, 'मैं मेहनत से कमाए अपने पैसे किसी कामचोर व्यक्ति को क्यों दूं?' इस प्रश्न के बारे में कोई तार्किक चर्चा करना संभव नहीं है। आप दूसरों के बारे में जैसा महसूस करेंगे आप वैसा ही उनके बारे में सोचेंगे। जब पर्यावरणविद् हज़ारों सालों से खड़े रेडवुड के पेड़ों की रक्षा की बात करेंगे तो लकड़ी के बड़े व्यापारी उनकी हां-में-हां तो मिलाएंगे परंतु पीछे कहेंगे, 'भाड़ में जाएं। हमें भविष्य से क्या लेना-देना। भविष्य ने हमारे लिया क्या किया है?' भला क्या? इस सवाल का कोई उचित उत्तर नहीं है। हमें ऐसे लोग चाहिए जो अपने

आपको इंसानियत की लंबी चेन की एक कड़ी समझें और इस प्रकार बेवकूफी के सवाल नहीं पूछें। हमें देश प्रेमी लोग चाहिए - ऐसे लोग जो महज़ सरकार के कहने पर किसी अन्य देश को दुश्मन न मान लें। हमें ऐसे लोग चाहिए जो हर जगह कूड़ा-कचरा, बियर के डब्बे, बोतलें फेंक कर अपने देश प्रेमी होने का परिचय न दें।

हमारी लालच के बारे में कुछ समझ है। लालची आदमी अंदर से खोखला होता है। इसलिए वो अपनी आत्मसम्मान विहीन और सूनी ज़िंदगी को धन, ऊंचे पदों और सत्ता से भरने की कोशिश करता है। अक्सर लालची आदमी में बदला लेने की भावना भरी होती है। वो अतीत की किसी गलती के लिए हमेशा किसी अन्य व्यक्ति या समाज से बदला लेना चाहता है। जो लकड़ी का ठेकेदार हरी-भरी पहाड़ियों के पेड़ कटवाकर उन्हें नंगा करता है, जो फैक्ट्री मालिक मिशिगन झील के पास के टीलों को कटवाकर स्टील का नया कारखाना लगवाता है, जो कंपनी मैनेजर अपने आसपास के हवा और पानी में ज़हर उगलता है, जो पर्यटक अपनी कार की खिड़की से कचरे के थैले और बियर के खाली डिब्बे फेंकता है, ये सभी-के-सभी एक तरह से समान हैं। वे सभी कहीं-न-कहीं यह कह रहे हैं कि, 'देखो हरामखोरों, हमने तुम्हे मज़ा चखाया है!' उनका पूरा जीवन एक तरह का युद्ध होता है जिसे वे न तो बंद कर सकते हैं और न ही जीत सकते हैं क्योंकि उन्हें अपनी कमी का बिल्कुल अंदाज़ नहीं होता है। वो कभी भी संतुष्ट नहीं होते। उनके अंदर का खोखलापन कभी नहीं भरता। शिक्षा के सामने एक बड़ी चुनौती है - बच्चों को भक्षक बनने से कैसे रोके, और पृथ्वी के सीमित साधनों को कैसे बचाए? यहां पर लालच को पूरी तरह खत्म करने की बात नहीं हो रही है। लालच प्राकृतिक भी हो सकता है पर उसकी भी कुछ निश्चित सीमाएं होनी चाहिए। मेन नाम के शहर में खेल-कूद के सामान की बड़ी दुकान है। उसके मालिक मिस्टर बीन को एक बार किसी ने थोड़े मेहनत से व्यापार को तिगुना करने का गुर बताया। उसे सुनकर मिस्टर बीन ने कहा, 'आखिर क्यों? मैं दिन में चार बार तो भोजन कर नहीं सकता।' जो है, वो बहुत है।

## स्वतंत्रता

कुछ समय पहले एक प्रतिष्ठित प्राइमरी स्कूल की पालक-शिक्षक संघ की बैठक में मुझे अपने विचार रखने का मौका मिला। इसमें मैंने हमेशा की तरह ही बच्चों के खुद निर्णय लेने और उसे अपने तरीके से सीखने की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया। मीटिंग के बाद एक पालक मेरे पास आया और उसने कहा, 'मेरी राय में हमें धीरे-धीरे बच्चों की स्वतंत्रता को कम करना चाहिए जिससे कि बड़े होने पर वे वयस्क जीवन के लिए पूरी तरह तैयार हो सकें।' बहुत से लोगों ने, अलग-अलग अवसरों पर ऐसी बातें मुझ से कही हैं। मुझे समझ नहीं आता है कि इन प्रश्नों का उत्तर कैसे दूं। स्वतंत्र कहलाने वाले इस देश में अधिकांश लोगों के लिए वैसे ही कोई असली स्वतंत्रता नहीं है। परंतु कुछ लोग स्थित को ठीक समझते हैं और उसे बदलने की बात सोचते भी नहीं। वे अपने बच्चों की स्थित से अभ्यस्तता कराने में मदद देना चाहते हैं।

स्वतंत्रता एक अच्छी और रक्षा करने लायक चीज़ है इसका कोई वैज्ञानिक प्रमाण तो नहीं है। डब्लू. एच. फेरी ने शायद ठीक ही कहा था कि उन्हें बस 'मुक्ति का अहसास' अच्छा लगता है। मुझे इस देश में स्वतंत्रता का भविष्य बहुत उज्जवल नहीं दिखता है। क्योंकि मुझे उस अभिभावक जैसे अन्य कई लोग मिले हैं जिन्होंने कभी भी खुद को स्वतंत्रत महसूस नहीं किया, न करते हैं और न करेंगे। वो स्वतंत्रता के महत्व को ही नहीं समझते। अधिकांश अमरीकियों के लिए स्वतंत्रता महज़ एक नारा है जिसके आधार पर वे किसी भी परतंत्र विदेशी से घृणा कर उसे कत्ल करना भी ठीक मानते हैं। जब उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है जो अपनी स्वतंत्रता को गंभीरता से लेता है तो वे उससे डरते हैं या उसपर नाराज़ होते हैं। 'तुम कौन हो? लगता है अव्वल नंबर के कोई बेवकूफ हो।' क्योंकि परतंत्र इंसान ही दूसरों की स्वतंत्रता को छीनना चाहता है।

अगर लोग किसी भी कारण से अपने आपको कम स्वतंत्र महसूस करें तो उससे बाकी लोगों की स्वतंत्रता को खतरा पैदा होता है। किन कारणों से लोगों की स्वतंत्रता कम होती है? जब लोग किसी अज्ञात व्यक्ति की आज्ञा का पालन करते हैं। जब लोग, आज्ञा देने वाले व्यक्ति को नियंत्रण में नहीं रख पाने के कारण खुद को बेबस महसूस करते हैं। जब लोगों को कुछ बताया नहीं जाता है, जानकारी नहीं दी जाती है तो वे सच्चाई तक पहुंचने में असमर्थ होते हैं। एक अन्य कारण से लोग अपने आपको परतंत्र महसूस करते हैं। जब वे अपने जीवन को खुद के विचारों

के मुताबिक ढालने में खुद को असमर्थ महसूस करते हैं। जब लोगों के सामने कोई असली विकल्प नहीं होता है। जब लोगों के जीवन की दिशा, उनसे बिना पूछे, अन्य लोग निर्धारित करते हैं। इस समाज में एक ऐसी वस्तुस्थिति का निर्माण हो रहा है जिससे आम लोग खुद को अधिक परतंत्र महसूस करने पर मज़बूर हैं। इस देश की स्वतंत्रता को शायद यही सबसे बड़ा खतरा है।

इसके दो कारण हैं। पहला, दैनिक जीवन से संबंधित संस्थाएं - व्यापार, सरकारी एजेंसियां आदि दिनोंदिन बड़ी और भीमकाय होती जा रही हैं। साथ ही बड़े संगठनों के नियमानुसार वे अधिक केंद्रीय, अमानवीय और लालफीताशाही का गढ़ बनती जा रही हैं। साधारण लोग हरेक संस्था के लिए एक समस्या ही होते हैं। जब किसी संस्था के सामने पहली बार कोई समस्या आती है तो उसे कोई हल करने का प्रयास करता है। यह हल जल्द ही एक मिसाल बन जाता है। मिसाल एक तंत्र में बदल जाता है और अंत में तंत्र एक नियम बन जाता है। जल्द ही सारी संस्थाएं हमें और आपको केवल अपने सबसे निचले तबके के लोगों से ही मिलने देंगी जो निर्णय लेने में हमारी तरह ही मज़बूर और सत्ताविहीन होंगे। वे अपने हाथ खड़े कर देंगे और कहेंगे, 'मुझे माफ करें; मैं भला कर ही क्या सकता हूं, मैं तो यहां सिर्फ मज़दूरी करता हूं।'

अगर तकदीर साथ दे तो शायद तमाम प्रयासों के बाद आप इस मशीन को भेदने में सफल हों पाएं और आपको ऐसा कोई मिले जो निर्णय लेने और काम करने के लिए तैयार हो। कुछ वर्ष पहले मैंने एक बड़े डिपार्टमेंट स्टोर से कुछ चीज़ों का आर्डर दिया था। उनके पास उनमें केवल आधी ही चीज़ें थीं जो उन्होंने मुझे भेज दीं। लेकिन उन्होंने मुझे पूरे आर्डर का बिल बनाकर भेज दिया और कहा कि पूरा बिल जमा करने के बाद मुझे बकाया राशि का क्रेडिट मिल जाएगा। मैंने बिल का भुगतान नहीं किया। मैंने कहा कि पूरा सामान मिलने पर ही मैं पूरे बिल का भुगतान करूंगा। इसके बाद उस डिपार्टमेंट स्टोर ने मेरे बैंक को अनेकों पत्र लिखे जिनमें धमकियों के साथ मेरे खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने की बात लिखी गई थी। मैंने भी गुस्से में आकर उन्हें कई जवाब दिए। करीब छह महीनों के बाद मुझे एक पत्र मिला जिस पर किसी इंसान ने हस्ताक्षर किए थे। मैंने तत्काल फोन मिलाकर उसे पूरी कहानी बताई। उसने मुझसे माफी मांगी और पूरे सहयोग का आश्वासन दिया। अगले कुछ हफ्तों में मेरे आर्डर का बकाया माल भी आ गया और फिर मैंने पूरे बिल का भुगतान कर दिया। कम-से-कम अंत तो सुखद हुआ। परंतु अगर मैंने स्टोर को पहले ही पैसे दे दिए होते तो शायद अंत इतना सुखद न होता। परंतु आम इंसान के पास बड़े डिपार्टमेंट स्टोर्स को ढेरों पत्र लिखने और वकीलों और बैंक आदि के पचड़े में पड़ने का वक्त ही नहीं होता है।

सरकार भी बहुत दूर स्थित मालूम पड़ती है। मैंने राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, कैबिनेट सदस्यों और कांग्रेस के मेम्बर्स को बहुत से पत्र लिखे हैं। बहुत कम बार ही मुझे कोई ऐसा जवाब मिला है जिससे लगे कि उस महानुभाव ने मेरा पत्र पढ़ा भी था। ज़्यादातर बार तो बस पत्र प्राप्त होने की पावती ही मिलती है। मेरे पत्रों को अवश्य किसी ने पढ़ा होगा। वो व्यक्ति कुछ करने की स्थिति में नहीं होगा और शायद उसे मेरे विचारों की कोई परवाह ही न हो। शायद उसने मेरे पत्रों को किसी फाइल में लगा दिया होगा। इन पत्र पढ़ने वालों का काम मेरी बात को अपने ऊंचे अफसरों तक पहुँचाना नहीं है। वे नहीं चाहते कि मैं ऊंचे अफसरों को परेशान करूं या उनके सोच में कुछ बदलाव लाऊं। वे मेरे और अफसरों के बीच एक दीवार का काम करते हैं। दूसरी ओर वो चाहते हैं कि मैं उनकी बताई सारी बातों को मान लूं। धीरे-धीरे हमारी सरकार बड़ी और बड़ी के साथ-साथ गोपनीय और झूठी होती जाती है। ऊंचे अफसर हमसे साफ कहते हैं कि कुछ क्षेत्रों के बारे में जानकारी हासिल करने का हमारा कोई हक ही नहीं है। इनके बारे में वे हमें कुछ भी नहीं बताते।

हमें अपनी स्वतंत्रता में कमी का अहसास तब होता है जब लोग हमारे निजी जीवन में दखल देते हैं। यह दखलंदाजी गैर-आधिकारिक और आधिकारिक दोनों प्रकार की होती है। पहली की कई मिसालें हैं। लोगों के टेलीफोन आदि 'टैप' करने की वारदातें बढ़ी हैं। कुछ लोगों इससे बहुत नाराज़ हैं और उन्होंने इसके खिलाफ अपनी आवाज़ भी उठाई है परंतु उससे सरकार की कान में जूं भी नहीं रेंगेगी। धीरे-धीरे हमारी ज़िंदगी में सरकारी और निजी एजेन्सियों की दखल बढ़ेगी ही, कम नहीं होगी। आम आदमी को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सरकारी और अन्य अधिकारी अगर चाहें तो वे उसके सारे वार्तालापों को आसानी से सुन सकते हैं।

आधिकारिक या अनिवार्य दखलंदाजी से मेरा मतलब उन मनोविज्ञानिक परीक्षणों से है जहां पर लोगों को अपने विचार, इच्छाएं, सपनें, भय आदि के बारे में मजबूर होकर बताना पड़ता है। नौकरियों के लिए आपको इस प्रकार के कई परीक्षण लेने होंगे। लोग इन परीक्षणों से घृणा और उनका तिरस्कार करते हैं। परंतु आने वाले समय में तीन कारणों से इनमें और बढ़त आएगी। पहले तो इनसे मोटी आमदनी होती है। दूसरे अन्य लोगों की ज़िंदगी में झांकने की इच्छा पूरी होती है। तीसरे, यह मिथक कि 'विज्ञान' मानवीय जीवन के खतरों से परे है। लोगों से पूर्व विचारों और संबंधियों के बारे में शपथ लेकर बताने को कहा जा रहा है। आजकल सुरक्षा के नाम पर पड़ोसियों, मकान मालिक, मित्रों आदि से भी लोगों के बारे में बहुत सी निजी जानकारी हासिल की जा रही है। इस तरह की अफवाह है कि देश के सभी निवासियों के बारे में इस तमाम जानकारी को वाशिंगटन में इस्तेमाल के लिए संकलित किया जाएगा। कुछ अल्पसंख्यक स्वतंत्रता प्रेमी इसका अवश्य विरोध करेंगे। परन्तु उसका कोई खास नतीजा नहीं निकलेगा। लोगों के निजी जीवन पर जानकारी एकत्रित और केंद्रिकृत करने का काम और तेज होगा जिससे धीरे-धीरे करके आम नागरिक अपने आपको कम स्वतंत्र महसूस करेगा।

इन विषम परिस्थितियों और दबावों में हम अपनी स्वतंत्रता को कैसे बचाएं और उसे कैसे बढ़ाएं? इसके लिए हमें एक नहीं, कई ऐसी पीढी चाहिए होंगी जिन्हें स्वतंत्रता से गहरा प्यार हो। जिनका स्वतंत्रता से लगाव हमसे भी गहरा हो। वर्तमान स्कूल ऐसी पीढ़ी नहीं तैयार कर रहे हैं। हाई-स्कूल के छात्रों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अव्वल तो वे अपने मौलिक अधिकारों के बारे में बहुत कम जानते हैं। दूसरे, उन्हें जो कुछ भी बताया जाता है वे उस पर विश्वास नहीं करते हैं। एक और सर्वेक्षण के अनुसार, चालीस प्रतिशत लोग चाहते हैं कि पुलिस मुजरिमों से अपराध स्वीकार करवाने के लिए 'थर्ड डिग्री' यानि कि कठोर यातनाएं प्रयोग करे।

हमारे स्कूलों की हालत को देखते हुए इसमें को आश्चर्य की बात भी नहीं है। आज सामाजिक शिक्षा की सबसे दुखद और खौफनाक बात तो यह है कि लगभग सभी स्कूलों में बच्चों के साथ जेल के कैदियों जैसा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका में नीग्रो लोगों की तरह वे बिना लिखित अनुमति के इधर से उधर नहीं जा सकते हैं। स्कूल की पूरी इमारत छात्र-मॉनीटरों, जासूसी और खुफिया चुगलखोरों से भरी होती है जिनका काम इस लिखित अनुमति को जाँचना होता है। परन्तु यह फिर भी दिल दहला देने वाली बात नहीं है। सबसे दुखद बात तो यह है कि छात्र इसका न कोई विरोध करते हैं, न इसके बारे में कोई शिकायत करते हैं और शायद उन्हें इसमें कुछ बुरा भी नहीं लगता है। उल्टे छात्र इसका समर्थन करते हैं और इसे अपने लिए हितकारी समझते हैं। सच्चे गुलाम बनने की इन छात्रों की तैयारी काफी अच्छी चल रही है।

एक बार शहर के एक बड़े पब्लिक स्कूल के एक अधिकारी ने साठ-सत्तर हाई स्कूल के छात्रों को जिसमें अधिकतर नीग्रो थे और कुछ शिक्षकों को एक भाषण दिया। इस समारोह में मैं भी शामिल था। उनका छात्रों को संदेश था: तुम स्कूल में अच्छा बर्ताव करो। शिक्षकों के बात पर बिना फालतू के प्रश्न पूछे तत्काल अमल करो। क्यों? क्योंकि स्कूल ने हरेक छात्र के लिए एक अलग कार्ड बनाया है जिसपर कोई भी शिक्षक आकर तुम्हारे द्वारा किए गए किसी भी गलत काम को लिख सकते हैं। और जब तुम स्कूल छोड़कर नौकरी करने जाओगे तो वो कार्ड हमेशा के लिए तुम्हारे भावी मालिक के पास रहेगा। यह सुन कर मैं सहम उठा और मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। इस अधिकारी ने स्कूल की कुछ अच्छाईयों - विभिन्न पेशों, नौकरियों की संभावना आदि का भी बखान किया। उसको सुनते समय कुछ प्रश्न लगातार मुझे सताते रहे। क्या यह सच हो सकता है? क्या यह एक आम बात है? कार्ड पर क्या लिखा है क्या इसका छात्रों को कुछ पता होता है? क्या कभी छात्रों को अपनी ओर से सफाई देने का मौका मिलता है? क्या वो इसके खिलाफ कोई याचना कर सकते हैं? क्या इन छात्रों को, वयस्क मुजरिमों के समान ही कुछ कानून सुरक्षा मिलेगी?

प्रश्न-उत्तर के सत्र के दौरान मैं उत्सुकता से छात्रों छात्रों द्वारा पूछे प्रश्नों का इंतज़ार करने लगा। यह बैठक छात्रों के लिए ही थी और वही इसके शिकार थे इसीलिए उनको ही सबसे पहले प्रश्न पूछने चाहिए थे। परंतु किसी छात्र ने प्रश्न नहीं पूछे। जब मुझ से रहा नहीं गया तो अंत में मैंने ही प्रश्न पूछे। वक्ता ने बड़े ठंडे दिमाग से मेरे प्रश्नों का जवाब दिया। उसे अन्य शहरों के बारे में तो नहीं पता था परंतु उसके अनुसार इस शहर की यही परंपरा थी। छात्रों को अपने कसूर के बारे में नहीं पता था और उन्हें सफाई पेश करने का भी कोई मौका नहीं था।

हो सकता है इसमें कुछ अन्याय भी होता हो। एक बात को मैं बिल्कुल पचा नहीं पाया। वक्ता खुद एक नीग्रो था। शायद यही इस तंत्र को चलाने का एक समझदार तरीका है। उस आदमी का काम इस तंत्र को बदलने या उसके बारे में शिकायत करने का नहीं था। वो छात्रों को अपने अधिकार क्षेत्र से कुछ अधिक ही बता रहा था। दूसरे अधिकारी तो इतना भी नहीं करते हैं। और यही असल सच्चाई है।

अगली कुछ कक्षाओं में हमने इस बारे में चर्चा करी। कुछ छात्रों को इन कार्डों के बारे में पहले से ही पता था। जिन्हें नहीं पता था उन्हें भी इस जानकारी से कोई खास आश्चर्य नहीं हुआ। उन्हें इसकी उम्मीद थी। उन्हें इस बात पर मेरे परेशान होना और विचलित होना समझ में नहीं आ रहा था। मैंने उनसे गलियारों में आने-जाने वाले अनुमति पत्रों की बात पूछी। सभी छात्रों को उन्हें भरना पड़ता था। उन्हें अनुमति पत्रों को भरने का कोई गिला-शिकवा नहीं था। एक बुद्धिमान छात्र जो नागरिक-अधिकारों और शांति के आंदोलनों में काफी सक्रिय था ने कहा, 'अधिकारियों को स्कूल इसी प्रकार चलाना पड़ता है नहीं तो छात्र पूरी इमारत को ही तहस-नहस कर डालेंगे।' मैंने पूछा, 'क्या तुम ऐसा करोगे?' उसने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं तो नहीं करूंगा परंतु अन्य छात्र ऐसा ज़रूर करेंगे। अगर उन्हें मुक्त होकर इधर से उधर आने-जाने की सुविधा मिली तो वे अवश्य उसका दुरोपयोग करेंगे।' सुविधा! उस लड़के को सुन कर ऐसा लगा जैसे बाकी छात्र किसी जेल के कैदखाने में हों और दिन में एक घंटे के लिए बाहर घूमने जाने की सुविधा की मांग कर रहे हों।

पिछले साल जूनियर हाई स्कूल की एक छात्रा अपने घर एक पर्चा लेकर आई जिसपर लिखा था, 'आपका क, ख, ग, हाई स्कूल में हार्दिक स्वागत है।' यह पर्चा प्रत्येक छात्र को दिया गया था। मैं उस पर्चे को पढ़कर एकदम सहम गया। इस पर्चे और सेना द्वारा नए रंगरूटों की भर्ती के इश्तहार लगभग एक समान थे। अंतर केवल इतना था। सेना के इश्तहार, हाई स्कूल के पर्चे की तुलना में कहीं अधिक दोस्ताना और स्वागत के अंदाज़ में लिखे थे। सेना का संदेश था, 'आपके आने की हमें खुशी है। यहां पर कई बेहद रोचक चीज़े चालू हैं। हमें उम्मीद है कि आपको उनमें मज़ा आएगा और आपको यहां पर अच्छा लगेगा।' दूसरी ओर जूनियर हाई स्कूल का संदेश कुछ ऐसा था, 'हम आप पर लगातार नज़र रखे हैं; आपकी शरारतों पर भी हमारा पूरा ध्यान है। आप लाइन से, ज़रा भी इधर से उधर हुए तो आपको तुरंत नानी याद आ जाएगी।' खौफनाक कैदियों के जेल के लिए शायद एक सही नोटिस रहता।

इस प्रकार के व्यवहार का बच्चों पर क्या असर होता है? वही जिसकी हम उम्मीद करते हैं। इससे बच्चों का आत्मसम्मान पूरी तरह नष्ट हो जाता है और इसे दुबारा पैदा करना लगभग असंभव हो जाता है। बच्चों को ऐसा लगने लगता है कि उनपर और अन्य लोगों पर विश्वास नहीं किया जा सकता और उन्हें कोई भी ज़िम्मेदारी नहीं सौंपी जा सकती है। बच्चों को स्वतंत्रता चखने, उसमें आनंद लेने से बेगाना करके हम उनकी निगाह में स्वतंत्रता के मूल्य की पूर्णत: अवमानना करते हैं। यह गुलामी का सबसे अच्छा प्रशिक्षण है। शायद हम एक ऐसा देश चाहते हैं जहां हरेक व्यक्ति का एक निर्धारित स्थान हो। जहां वो इंसान अपने से ऊपर के सभी लोगों का गुलाम हो और अपने से नीचे के सभी लोगों का मालिक हो। एक ऐसा देश जहां सभी लोग सत्ता के सामने घुटने टेकते हों यानि हिटलर से पूर्व जर्मनी जैसा देश। अगर हम ऐसा तानाशाह देश चाहते हैं तो हम सही रास्ते पर चल रहे हैं। तो हम उस पथ पर तेज़ी से अग्रसर हैं। एडगर फ्राईडिनबर्ग ने अपनी पुस्तक (***द वैनिशिंग एडोल्सेंट एंड द कमिंग ऑफ एज इन अमैरिका***) में लिखा है कि स्कूल लगातार छात्रों के नागरिक अधिकारों का हनन करते हैं और वर्तमान में स्कूलों में शारीरिक दंडों में बहुत इज़ाफा हुआ है - बच्चों की जमकर पिटाई होती है।

हमारे देश में लोग भेड़चाल की जमकर खिलाफत करते हैं और खुद के और अन्य लोगों के नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए लड़ते हैं। इसलिए हमें अपने बच्चों को स्कूलों में कुछ सच्ची स्वतंत्रता देनी चाहिए। चलने, घूमने-फिरने, बोलने की आज़ादी; अपने समय को योजनाबद्ध तरीके से उपयोग की आज़ादी; अपने काम को दिशा देने और उसके मूल्यांकन की आज़ादी; समझदार इंसान समझे जाने की आज़ादी।

1968

ब्लैकबोर्ड की गड़बड़

***लर्निंग टू टीच इन अर्बन स्कूल्स***, डोरोथी एम. मैकगियोच एवं कैरोल आर. ब्लूमगार्डन, एलिन आ. फुरेडी, लिन डब्ल्. रैंडोल्फ एवं यूजीन डी. रूथ जुनियर।

यह एक रोचक पुस्तक है जिससे कई बातों का खुलासा होता है। शिक्षा पर अन्य पुस्तकों की तुलना में यह किताब स्पष्ट, संक्षिप्त और निष्पक्ष है।

यहां चार नौजवान शिक्षकों ने, शहर में बस्ती के एक स्कूल में, पांच सालों के अपने काम को, खुद अपने शब्दों में सुनाया है। उनकी बातें आकर्षक लगती हैं। यह लोग काम में दृढ़, इमानदार, उत्साही लगते हैं। वे बच्चों की सहायता करने को आतुर हैं, खुद अपनी तीखी आलोचनाएं करते हैं और कोई भी अच्छी सलाह मानने को तैयार हैं। हम भाग्यशाली हैं कि ऐसे कुछ लोगों ने शिक्षक के पेशे को अपनाया है। इन लोगों के सहयोग से शायद हम जल्द ही गरीब बस्तियों में शिक्षा की समस्याओं का कोई हल निकाल लेंगे।

परंतु एक बात से मन दुखी होता है। इन बहुगुण सम्पन्न लोगों की सद्इच्छाओं, उनकी असीमित ऊर्जा और निष्ठा के बावजूद, अन्य शिक्षकों जैसे ही ये भी अंत में कुछ अच्छाई की जगह कुछ अनर्थ ही करेंगे। उन्होंने बस्ती के बच्चों के बारे में काफी कुछ पढ़ा और सुना है। उसके बावजूद भी वे बहुत अशिक्षित हैं। वो अपने काम के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हैं। न ही वे अपने अनुभव से सीखने के लिए तैयार हैं। ये शिक्षक अपने पूर्व शिक्षकों के समान ही सीखने की सही प्रकृति को नहीं समझते। बच्चों को स्कूल कैसे लगते हैं, स्कूलों के प्रति बच्चों की क्या प्रतिक्रिया होती है, और वो क्यों होती है इसका भी इन शिक्षकों को कोई इल्म नहीं होता है। बच्चों के संबंध में परिवेश और सीखने के संबंध को भी ये नहीं समझते। कौन सा माहौल सीखने को बढ़ावा देता है और उसका कैसे निर्माण करना है वो भी इन्हें नहीं पता है। इन प्रश्नों को ही उन्होंने कभी नहीं पूछा है उनके उत्तर खोजने की बात तो दूर रही।

एक कहानी है जिसमें एक ग्रामीण से पोस्ट-आफिस का पता पूछा जाता है। वो कई प्रकार से रास्ता बताने की कोशिश करता है परन्तु अंत में हताश होकर कहता है, 'सच बात तो यह है कि आप यहां से पोस्ट-आफिस पहुंच ही नहीं सकते हैं।' जिस बिन्दु से ये नौजवान शुरू हुए हैं, वहां से वे अपने गन्तव्य तक कभी पहुंच ही नहीं पाएंगे। वो ऐसी शिक्षा तक नहीं पहुंच पाएंगे जिससे उनके छात्रों का जीवन आलोकित हो। उनका शिक्षा का मॉडल बुनियादी रूप में इतना खराब और खोटा है कि उसमें पैबन्द लगाने और मरम्मत से कोई फायदा नहीं होगा।

अब शिक्षा संबंधी उनकी बातचीत को ही सुनें:

शिक्षक (क): 'मुझे सुबह के समय स्कूल के समय आने में कुछ भय लगता है। इसीलिए मैंने अपनी कक्षा में पढ़ाई की शुरुआत सख्ती से की। पिछली पूरी गर्मियों में मुझे पढ़ाते समय डर लगता रहा और मैं कांपती रही। परन्तु बाद में स्थिति उतनी बुरी नहीं रही। मुझे बहुत सी बातों के खराब होने का डर सता रहा था। ऐसा लग रहा था कि बच्चे मेरी कही बात की अनसुनी करेंगे और कक्षा में अराजकता फैल जाएगी। मेरा मानना था कि कक्षा में हरेक काम व्यवस्थित ढंग से होना चाहिए नहीं तो बच्चे ठीक से सीखेंगे नहीं। अगर वो एक-दूसरे से धीरे-धीरे फुसफुसाकर बोलते हैं तो कोई बात नहीं है परंतु उन्हें अपनी आवाज़ के स्तर को एकदम न्यूनतम रखना चाहिए।'

मैं यहां एक टिप्पणी करना चाहता हूं। यह बात उन बच्चों के लिए कही जा रही है जिनको भाषा के उपयोग का बहुत कम अनुभव है। अब आगे का हाल:

शिक्षक (ख): 'खेलकूद वाले शिक्षक ने व्यवस्था बनाने में मेरी सहायता की। हमने हरेक हफ्ते एक ही काम करते थे। लड़के बास्केटबाल खेलते और लड़कियां रस्सी कूदती थीं। मुझे लगा कि बच्चों को कुछ सामूहिक खेल खेलने चाहिए और कुछ रेसों में भाग लेना चाहिए परंतु मैं इस कार्यक्रम को हर हफ्ते लागू करने में असफल रही।'

शिक्षक (ग): 'कभी-कभी मैं दूसरे शिक्षक से पूछती हूँ कि वो कौन सा पाठ पढ़ा रही है। अगर वो भी मेरी ही तरह धीमी गति से चलती है तो मुझे अच्छा लगता है। अगर कोई शिक्षक मुझ से कई अध्याय आगे होता है तो मेरे पेट में दर्द होने लगता है।

'कक्षा में पढ़ाई को लेकर पिछड़ना बड़े शर्म की बात होती है। उन्हें लगा कि कक्षा में एक नियत सारणी है जिसके अनुसार काम आगे बढ़ना चाहिए। दूसरे इसे सफलतापूर्वक पूरा कर रहे थे और वे इसे नहीं कर पा रहे

थे।'

'अंत में सुबह की असेंबली में कुछ व्यवस्था बना पाई। मैं व्यवस्था बनाने के लिए वचनबद्ध थी।'

शिक्षक (घ): 'मुझे तब लगा था, और अभी भी लगता है कि अच्छे अनुशासन का मतलब होता है जब मर्ज़ी करे बच्चों का ध्यान आकर्षित कर पाना। अगर ऐसा नहीं होगा तो बाद में कक्षा को मज़बूती से अपनी गिरफ्त में ले पाना बहुत मुश्किल हो जाएगा।

'आपको अंत में कक्षा में अनुशासन लागू करना ही पड़ेगा क्योंकि तभी आप कुछ पढ़ा पाएंगे। आपको एक समय-सारिणी भी तय करनी होगी और उसे लगातार लागू करना होगा।'

संपादक: 'प्रत्येक नया शिक्षक अनुशासन के बारे में फिक्र करता है। नए शिक्षकों के दिमाग में बस ही एक ही बात लगातार घूमती रहती है: "क्या बच्चे मेरी आज्ञा का पालन करेंगे?"

ऊपर के उद्धरणों से यही लगता है कि ये शिक्षक व्यवस्था, नियंत्रण, आज्ञा और अनुशासन से ही पूरी तरह ग्रस्त हैं। उनका शिक्षा और कक्षा का मॉडल, किसी फैक्ट्री की असेंबली-लाइन जैसा है जिसमें बच्चे सबसे अंत में आते हैं। इसमें बच्चे खाली प्यालों जैसे अपने-अपने सही ठिकानों पर रखे होते हैं। शिक्षक का काम इन खाली बर्तनों में अंग्रेजी, गणित आदि का सुनिश्चित मात्राओं में ज्ञान उंडेलना होता है। उंडेलने का काम आसान होता है और इसे कोई भी कर सकता है। शिक्षक निर्देशिकाओं में जो बातें लिखी होती हैं उन्हें कोई भी आसानी से कर सकता है। शिक्षक का असली काम बच्चों को ज्ञान उंडेलते समय कनवेयर बेल्ट पर चुप बैठाना है। शायद इसीलिए यह शिक्षक और बाकी अन्य शिक्षक भी यह सोचते हैं कि शिक्षा का मुख्य काम व्यवस्था बनाने का होता है। उनके अनुसार व्यवस्थित माहौल में बच्चों के सीखने का काम अपने आप शुरू हो जाएगा।

शहरों के स्कूलों में तो यह तरीका काफी कारगर साबित हुआ है। फिर गरीब बस्तियों के स्कूलों में यह काम क्यों नहीं करता है?

समाजशास्त्री सांस्कृतिक वंचन के सिद्धांत का ज़िक्र करते हैं। इसका ज़रूर कुछ संबंध है पर अधिक नहीं। शहरी स्कूल भी पूरी तरह उबाऊ और खौफनाक होते हैं परन्तु मध्यम-वर्गीय बच्चे उनको इसलिए झेलते हैं क्योंकि वयस्क उनके सामने लालच और सज़ा का जाल रचते हैं। गरीब बस्तियों के बच्चे, और किसी भी स्कूल में बार-बार फेल होने वाले बच्चों का धीरे-धीरे लालच से यकीन हट जाता है और वे सज़ा से डरना भी बंद कर देते हैं। इन बच्चों को स्पष्ट पता होता है कि पुरुस्कार तो उन्हें कोई मिलेगा नहीं। जहां तक सज़ा की बात है बच्चों को पता होता है कि एक सीमा के बाद समाज उन्हें अधिक कड़ी सज़ा नहीं दे सकता है। धीरे-धीरे बच्चे सज़ा के अभ्यस्त हो जाते हैं। अभ्यस्त ही नहीं वे सज़ा में एक तरह का गर्व महसूस करते हैं। जब किसी बच्चे को कई दफा समाज से बाहर फेंक दिया जाता है तो फिर उसे समाज से बाहर ही रहना अच्छा लगने लगता है।

गरीब बस्तियों के लिए हमें एक बेहतर शिक्षा चाहिए। बच्चों की सच्ची सीख, उनकी उत्सुकता को शांत करने वाली सीख के कारण ही एक अच्छी व्यवस्था बनेगी। ऐसी सीख जो बच्चों को उनकी आसपास की दुनिया को समझने में सहायक हो। ऐसी सीख जो उनकी गरीबी की ज़िंदगी को कुछ बेहतर, कुछ जीने योग्य बनाने में मदद दे।

इस प्रकार की सीखने की पद्धति को हम कक्षाओं में कैसे क्रियांवित कर सकते हैं? इसको लेकर कुछ अच्छा काम हुआ है और कुछ बेहतरीन किताबें लिखी गई हैं जैसे - सिल्विया एश्टन वार्नर की पुस्तक ***टीचर*** और पौल गुडमैन की पुस्तक ***कम्पल्सरीमिसएड्यूकेशन***। दुर्भाग्यवश, इन चारों शिक्षकों की पुस्तक-सूची में ये दोनों किताबें नदारद हैं। इसलिए अगर कोई करिश्मा नहीं होगा तो ये शिक्षक अपनी कक्षाओं को सीखने की फैक्ट्रियों में बदलने का संघर्ष करते रहेंगे। हो सकता है कि उनका इसपर से विश्वास उठ जाए और वे शिक्षक का पेशा ही छोड़ दें। हो सकता है वे एकदम भीरू और आज्ञाकारी बच्चों को पढ़ाने लगें या फिर कोई प्रशासनिक काम करने लगें। परंतु यह उनके हुनर और आदर्शों का हनन होगा।

1965

जेल में बच्चे

***विलिज स्कूल डाउनटाउन***, लेखक पीटर श्रैग

***डेथ एट एन अर्ली एॅज: द डिस्ट्रक्शन ऑफ द हार्टस एंड माइन्डस ऑफ नीग्रो चिल्ड्रन इन द बॉस्टन पब्लिक स्कूल्स***, लेखक जोनोथन कोज़ोल

बड़े शहरों में पब्लिक स्कूलों का पतन, हमारे समय की सबसे दर्दनाक सामाजिक घटनाओं में से एक है। उसके कारण ही उन लाखों लोगों को शहरों से पलायन करने को मज़बूर होना पड़ा है जिनके धन, हुनर, प्रशिक्षण और रुचियों से शहर ज़िंदा और सुसंस्कृत स्थान थे। शहरों में बचे गरीब और नीग्रो लोगों और शहर की संस्कृति और संस्थाओं के बीच की खाई बढ़ी है। स्कूलों का मानना है कि वे स्वयं शहरी पतन के शिकार हैं, वे उसके कारण नहीं हैं। परंतु सच्चाई तो यह है कि स्कूलों की अच्छी मनोकामनाओं और समस्याओं के बावजूद वे शहरी पतन का कारण और उसके शिकार भी हैं।

हमारे शहरी स्कूल कितने खराब हैं? वे इतने खराब कैसे हुए? यह दोनों पुस्तकें मेरे अपने शहर बॉस्टन में पब्लिक स्कूलों की दशा का पर्दाफाश करती हैं। दोनों के तरीके एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। श्रैग पूरे स्कूली तंत्र का बाहर से अवलोकन करते हैं। एक अच्छे शोधकर्ता की हैसियत से श्रैग स्कूलों को एक संवेदनशील और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से परखते हैं। उनका शोध संतुलित, सही, मज़ाकिया और अनुबोधक है। दूसरी ओर कोज़ोल की पुस्तक उन स्कूलों का अंदरूनी खुलासा करती है। इसमें उन स्कूलों द्वारा नीग्रो बच्चों पर किए दुरव्यवहार का वर्णन है जहां पर कोज़ोल ने खुद पढ़ाया। उनकी पुस्तक वस्तुनिष्ठ भले ही न हो, वो एकदम सही न लगे परंतु उसमें भरपूर सच्चाई है। वो श्रैग जैसे दानव को उसका श्रेय देना नहीं चाहते वे सिर्फ दानव क्या करता है उसे दिखाना चाहते हैं।

श्रैग से हमें सबसे पहले यह मालूम पड़ता है कि:

शहर के एक-तिहाई से अधिक स्कूल पचास साल से ज़्यादा पुराने हैं, कई स्कूल तो दो सौ साल से भी ज़्यादा पुराने हैं। बीस में से अट्ठारह स्कूल, जो पहले महायुद्ध से पहले बने थे में पढ़ने वाले नब्बे प्रतिशत बच्चे नीग्रो हैं। इनमें से कुछ स्कूल तो एकदम खंडहर हैं और कुछ में बहुत ज़्यादा बच्चे हैं और वो अपने आसपास काफी गंदगी फैलाते हैं।

उसके बावजूद पिछले दो वर्षों में शहर में एक भी नया स्कूल नहीं बना है, जबकि शहर के मेयर और सिटी काउंसिल ने 290 लाख डालर के निर्माण फंड को मंजूरी दी थी। स्कूलों में उपकरणों की हालत भी इमारत से कोई अधिक अच्छी नहीं है:

कुछ स्कूलों में हरेक कक्षा में पैंतालिस से अधिक बच्चे ठुंसे हैं। कुछ स्कूलों में शिक्षकों को कक्षाएं किसी तहखाने, भोजनकक्ष या फिर किसी अन्य अस्थायी स्थान पर लगानी पड़ती हैं। ऐलीमेंटरी स्कूलों में कोई पुस्तकालय नहीं है और बहुत कम हाई स्कूलों में ही कोई पुस्तकालय है। वहां भी अधिकांश पुस्तकें फटी-पुरानी और गंदी हैं और नई पुस्तकों की बहुत कम प्रतियां हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि न तो प्रशासक और न ही निर्वाचित स्कूल कमेटी इस समस्या से निबटने के बारे में कुछ कर रही है। वे तो इस स्थिति को समस्या मानते ही नहीं। श्रैग के अनुसार, "इस कारण पिट्सबर्ग में नए निर्माण के पक्ष में सामाजिक सहानभूति अर्जित करने के लिए वहां का प्रशासन टूटी-फूटी स्कूली इमारतों के चित्र छापता है। पिट्सबर्ग में स्कूलों में कमरों की तंगी को लेकर पर्चे छपते हैं परंतु बॉस्टन में ऐसा कुछ नहीं होता है। प्रशासकों को उनकी गल्तियों के लिए दंडित करने की बजाए बॉस्टन में स्कूल कमेटियां, प्रशासन के साथ मिलकर समस्या को ढंकने का भरपूर प्रयास करती हैं। अगर हां, धन के अभाव में कभी अच्छे स्कूल भी खराब इमारतों में चल सकते हैं। परंतु बॉस्टन स्कूली तंत्र के पास धन की कोई कमी नहीं है, और उसने कभी धन का रोना रोया ही नहीं है।

इस तंत्र में कुछ अंदरूनी खराबी है:

शहर के अधिकांश शिक्षक, निम्न-मध्यम वर्ग से आते हैं। वे एक-जैसे स्कूल और कालेजों में पढ़ते हैं। शिक्षकों में कुछ इतालवी, कुछ यहूदी और बहुत कम ही नीग्रो हैं। दो सौ शिक्षकों में से केवल एक ही नीग्रो है। बॉस्टन में एक-दो यहूदी प्रिंसिपल भी हैं। (बॉस्टन में 1966 में पहली बार कोई नीग्रो प्रिंसिपल बना।) शिक्षा तंत्र के लगभग सभी उच्च अधिकारी बॉस्टन कालेज के स्नातक हैं। सभी निचले तबके से उठकर ऊपर आए हैं और सभी ने इस तंत्र में लगभग तीस साल बिताए हैं। अधिकांश की उम्र पचास साल से अधिक है और सभी कैथोलिक हैं। शिक्षा के सुप्रिंटेन्डेंट विलियम एच ओहरेनबर्गर को छोड़कर, बाकी सभी मूलतः आयरलैंड के हैं।

श्रैग एक प्रसिद्ध कैथोलिक आलोचक के हवाले से कहते हैं कि बॉस्टन में सफल होने के लिए 'आपको कैथोलिक होना ही पड़ेगा। किसी गैर-कैथोलिक को शिक्षा सुप्रिंटेन्डेंट बनाने की बात सोची भी नहीं जा सकती।' यह तंत्र पूरी तरह से बन्द है। यहां बाहर से कभी भी किसी व्यक्ति को अन्दर नहीं आने दिया जाता है।'

इस पूरे शिक्षा तंत्र और उसके लोगों की, जैसी कि उम्मीद थी, एक ही श्रृद्धा है - कि बच्चे पुराने तथा घिसे-पिटे तथ्यों को रट कर सीखें। शिक्षकों को भी प्रतियोगी परीक्षाओं में उनके तथ्यों को रटने और उन्हें उगलने की क्षमता के आधार पर चुना जाता है। और बाद में शिक्षक इसी प्रणाली का अपनी कक्षाओं में उपयोग करते हैं। श्रैग की पुस्तक का सबसे दुखी खंड वो है जिसमें वे बॉस्टन के स्कूलों में घटी एक घटना का हू-बहू वर्णन करते हैं। अंग्रेजी की कक्षा में एक शिक्षक एक कविता 'मृत्यु के साथ मेरी भेंट' (आई हैव ए रेंडेवू विद डेथ) पर चर्चा कर रहा था। शिक्षक पूछता है, 'आखिर इस भेंट का क्या अर्थ है?'

उत्तरः (एक लड़का खड़ा होकर कहता है) इसका मतलब है मिलना।
प्रश्नः यह मिलन कब होता है?
उत्तरः वसंत में।
प्रश्नः इन पंक्तियों में कवि मृत्यु की किस चीज़ से तुलना करता है?
उत्तरः एक मानव से।
प्रश्नः इसे क्या कहते हैं?
उत्तरः मानवीकरण।

आदि, आदि। अब एक अन्य कक्षा पर नज़र डालें।

प्रश्नः जहां तक नेपोलियन की बात है इटली उसके लिए किस तरह से अच्छी थी?
उत्तरः नेपोलियन वहां पर अपने रिश्तेदारों को ऊंचे ओहदो पर नियुक्त कर सकता था।
प्रश्नः नेपोलियन एक अच्छा, पारिवारिक आदमी था। उसे इटली में क्या मिला?
उत्तरः बेशकीमती चित्रों का संग्रह।

एक अन्य स्कूल में,
प्रश्नः क्या हमें क्रांति में सफलता मिली, फुट?
उत्तरः हां।
प्रश्नः हां यह तो सही है। उसके बाद सरकार गठित करने के लिए एक योजना बनानी पड़ी। उसका नाम क्या था?
उत्तरः संविधान।
प्रश्नः मैं तुम्हें कस कर सिर पर मारूंगा। (शिक्षक अपना हाथ उठाता है।)
उत्तरः राजमंडल के अनुच्छेद।
प्रश्नः यह क्या बला हैं? (पाठ्यपुस्तक के पन्ने पलटता है)

उत्तर: हमारी सरकार की पहली योजना।

आदि, आदि। एक अन्य में
प्रश्न: वो कुत्तों की स्लेज से क्यों गए?
उत्तर: क्योंकि वहाँ पर बहुत सी बर्फ थी।
प्रश्न: माईकिल, तटवर्ती इलाके के पास की ज़मीन कैसे होती है?
उत्तर: पहाड़ी।
प्रश्न: वो तट को क्या करते हैं?
उत्तर: शिकार करते हैं।
प्रश्न: वो किसी भी तट पर क्या करते हैं?
उत्तर: मछली पकड़ते हैं।

इन कक्षाओं की एक बात है जो आश्चर्य में डालती है। इसमें एक चर्चा पांचवी, एक सातवीं, एक नौवीं और एक अन्य उच्च कक्षा के छात्रों के लिए है परंतु चर्चा की गुणवत्ता के आधार पर आप कक्षा का कोई अनुमान नहीं लगा सकते हैं। अच्छे स्कूलों की पहली कक्षा की चर्चाएं भी इससे कहीं अधिक रोचक और बेहतर होती हैं।

इस प्रकार की शिक्षा के क्या नतीजे निकलेंगे उनका आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। एक ज़माने में हाई स्कूलों से निकलने वाले छात्र जिन्हें चोटी के कालेजों में दाखिला मिलता था उनमें बॉस्टन सर्वप्रथम था। परंतु आज बॉस्टन में हाई स्कूल से निकलने वाले केवल एक-चौथाई छात्र ही किसी कालेज में दाखिला लेते हैं। श्रैग के आंकड़ों के अनुसार 93,000 की आबादी में बॉस्टन में केवल 4,454 स्नातक हैं। इससे पता चलता है कि हाई स्कूल से पास होने वाले छात्रों के ग्रेडस राष्ट्रीय औसत से कहीं नीचे होते हैं और आगे जाकर ये ग्रेडस और कम हो जाते हैं।

वैसे यह तंत्र कभी भी बहुत कल्पनाशील नहीं था परंतु फिर भी कामचलाऊ था। किन कारणों से धीरे-धीरे इस तंत्र की ऊर्जा, इच्छाशक्ति और नैतिकता समाप्त हुई? इस बारे में श्रैग एकदम स्पष्टता से कुछ नहीं कहते हैं परंतु उनके अनुसार यह अवनति स्कूलों में अमरीकियों की जगह, आइरिश कैथलिकों की नियुक्ति के कारण हुई। यह जांच काफी सतही है और एक विशेष समुदाय की ओर इंगित करती है। सच्चाई तो यह है कि वर्तमान में शिक्षा में सबसे कल्पनाशील प्रयोगकर्ता और सुधारक कैथोलिक ही हैं। इसलिए कैथलिकों द्वारा नियंत्रित स्कूलों में शिक्षा खराब ही होगी यह मानना गलत होगा। दूसरी ओर बॉस्टन में स्कूली शिक्षा का पतन एक समानान्तर प्रक्रिया का नतीज़ा है। इस शैक्षिक पतन को उन स्कूलों में भी देखा जा सकता है जहाँ पर कैथोलिक, आइरिश प्रभाव बहुत कम है।

परंतु मुझे श्रैग की जांच में एक बात सच्ची लगती है। बॉस्टन में जिन शिक्षकों ने, स्कूलों को पूर्व अमरीकियों से अपने हाथों में लिया वे सभी एक निम्न-मध्यम वर्गीय, गैर-बुद्धिजीवी पृष्ठभूमि से आए थे। इसलिए उन्होंने शिक्षा को भी प्रशासनिक सेवा का ही एक अंग माना। वो शिक्षा के क्षेत्र में इसलिए नहीं आए थे क्योंकि उनकी शिक्षा में कोई रुचि थी और सीखना-सिखाना उन्हें पसंद था। वे शिक्षा में इसलिए आए क्योंकि यहां पर कम काबलियत के बावजूद वो सेवानिवृति तक, आराम से अपना जीवनयापन कर सकते थे। यानि के वे लोग शिक्षा में उन्हीं कारणों से आए जिन कारणों से लोग पुलिस या पोस्ट-ऑफिस में भर्ती होते हैं। यानि शिक्षा विभाग की नौकरी सुरक्षित, आरामदेय और प्रतिष्ठित थी जिसके माध्यम से सामाजिक-आर्थिक सीढ़ी पर आसानी से कुछ ऊपर चढ़ा जा सकता था।

ऐसे लोग, चाहें वे किसी भी पृष्ठभूमि से आए हों, कभी भी अच्छे शिक्षक नहीं बन सकते। ऐसे शिक्षक, गरीब बस्तियों के स्कूली बच्चों की कुछ भी सहायता करने में असमर्थ होंगे। एक ओर ऐसे शिक्षक सामान्यत: अपनी स्थिति को लेकर बेचैन रहते हैं और शायद इसी कारण वे कक्षा में, सत्ता और नियंत्रण को अधिक महत्व देते हैं। वे हरेक व्यक्तिगत समस्या को अपनी सत्ता के खिलाफ चुनौती समझते हैं। दूसरी ओर, एडगर फ्राइडिनबर्ग के

अनुसार, इन शिक्षकों के मूल्य और बर्ताव काफी बाज़ारू और व्यवसायिक होते हैं, जो कि बच्चों, खासकर गरीब बस्ती के बच्चों के अराजक मूल्यों से टकराते हैं। एक अन्य बात भी है। ऐसे शिक्षक न तो रोचक होते हैं और न ही उनकी किसी शौक में रुचि होती है। वे शिक्षा को 'आगे बढ़ने' का एक अस्त्र मानते हैं। जीवन में अधिक आगे नहीं जाने के कारण ये शिक्षक अपने छात्रों को भी अधिक प्रेरित करने में असफल रहते हैं। उनके कहे और अनकहे सुझावों का बस एक ही सार होता है, 'मेहनत से पढ़ोगे तो एक दिन तुम भी मेरे जैसे बनोगे'। उनके छात्र इसका चुपचाप उत्तर देते हैं, 'तुम निहायत कम्बख्त हो। भला तुम्हारे जैसा कौन बनना चाहेगा?' क्योंकि यह शिक्षक हाल ही में गरीबी की रेखा से ऊपर उठे हैं इसलिए वो गरीब बच्चों को अभी भी भय, घृणा और हेय दृष्टि से देखते हैं। अपनी इन भावनाओं को वो चाहने के बाद भी छिपाने में असमर्थ रहते हैं।

शिक्षण का कार्य एक कठिन कार्य है। मुझे अपने शिक्षण के काम को बहुत ही अनुकूल परिस्थितियों में करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मुझे अपने तरीकों को सामग्री को उपयोग करने की पूरी छूट मिली। मेरी कक्षाओं में अक्सर कम छात्र ही होते थे जो अगर बहुत उत्सुक नहीं तो भी बात मानते थे। स्कूल का प्रशासन मेरी पद्धति को शायद समझ नहीं पाता था फिर भी वो मेरी भरसक सहायता करते थे। मेरी शिक्षा में गहरी रुचि है और मुझे सभी बच्चों की संगत में आनंद आता है। इस सबके बावजूद मुझे कक्षा में पढ़ाना बहुत कठिन लगता है और मैं शिक्षण के काम से बेहद निराश और निरुत्साहित हो जाता हूं। अगर यह एक प्रेरित व्यक्ति का हाल है तो जिन लोगों के लिए शिक्षण का काम महज एक नौकरी है उनका हाल क्या होगा। उन्हें अपनी पूरी ज़िंदगी केवल आदेशों का पालन करना होगा। उन्हें अपनी प्रेरणा, कल्पनाशीलता और बुद्धि को ताक पर रखना होगा और केवल काम करवाने वाले मैनेजर, पुलिसमैन और जज का रोल निभाना होगा। कागज़ और फाइलों के पुलिंदे कभी उनका पीछा नहीं छोड़ेंगे और उन्हें तुच्छ प्रशासनिक काम करना होगा। हर रोज़ उन्हें ऊबे और विरोधी बच्चों का सामना करना होगा। शिक्षक को न तो कभी अच्छी तनख्वाह मिलेगी और न ही समाज में, या शिक्षकों के अपने समुदाय में उचित सम्मान मिलेगा। शिक्षा की नौकरशाही में भी शिक्षक को हमेशा निचले दर्ज़े का मज़दूर या प्यादा समझा जाएगा। ऐसे इंसान के लिए पढ़ाने का काम बेहद उबाऊ और कष्टदायक होगा। कल रात एक आदमी ने शिक्षा में नवाचार पर मेरे भाषण को सुनकर मुझसे कहा, 'मुझे डर है कि नौजवान लोगों को यह उबाऊ काम करना ही पड़ेगा। देखो मैं चालीस साल की उम्र में ही पूरी तरह खत्म हो चुका हूं।' एक सेकंड के लिए मुझे आश्यर्च हुआ, परंतु पता चलने पर मैं उसकी बात को समझ पाया। उसे अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए सारी ज़िंदगी दो नौकरियां करनी पड़ीं थीं - पढ़ाने के साथ-साथ एक अन्य और नौकरी।

इस प्रकार के लोग अपने आपमें हीरो हैं। उनके जीवन भर के संघर्ष के लिए हमें उनका आदर करना चाहिए। हमें अपने आपसे यह भी पूछना चाहिए - क्योंकि हम हमेशा शिक्षा तंत्र के सख्त, संकीर्ण और सत्तावादी होने की दुहाई देते हैं, कि स्वतंत्रता ऐसे लोगों के लिए क्या मायने रखती है जिन्होंने न तो पहले कभी स्वतंत्रता चखी है और जो अभी भी परतंत्र हैं। इनमें से कई 'स्वतंत्रता' की रक्षा के लिए तर्क करने, लड़ने और यहां तक कि मरने (बाकी सभी को मारने) को भी तैयार हैं। इससे उनका एक भय और सुदृढ़ होता है कि किसी अन्य देश में उन्हें और भी अधिक काम करना पड़ेगा और उन्हें यहां से भी कम ईनाम मिलेंगे। इसलिए अगर उन्हें गुलामी करनी ही है, तो उसके लिए यही सबसे सर्वश्रेष्ठ देश है।

इस प्रकार के लोगों से अपेक्षा करना कि वे 'स्वतंत्रता' की रक्षा करेंगे, उसके लिए लड़ेंगे और उसका पोषण करेंगे, बिल्कुल गलत होगा। 'स्वतंत्रता' को वे एक मंहगी वस्तु समझते हैं, जिसे वे कभी खरीद नहीं पाए हैं। इसलिए वे, स्वतंत्रता चाहने वाले लोगों, और उनमें बहुत से बच्चे शामिल हैं को नापसंद करते हैं। इतना ही नहीं, वे 'स्वतंत्रता' प्रेमियों को खतरा मानते हैं। उनके लिए 'स्वतंत्रता' से लोग हमेशा मुश्किलों में फंसते हैं। पिछले ही दिन एक शिक्षक में मुझसे कहा, 'हम जैसे ही कुछ बड़े होते हैं, समाज हमारे ऊपर एक ठप्पा लगा देता है।' यह कहते हुए उसने अपने हाथों से, अंडों के ऊपर ठप्पा लगाने का अभिनय किया - 'और इसमें नहीं फिट होता है उसे दुत्कार दिया जाता है। आपके तरीके से जो बच्चे पढ़ेंगे उनका क्या होगा? वे जिंदा कैसे रहेंगे?' इसी तर्ज पर कभी किसी ने यह लिखा था। 'जो गाय दूध निकालने का बहिष्कार करे उसे जल्दी ही लंबी नींद सुला दो।' बहुत

से शिक्षक इसी प्रकार का नज़रिया रखते हैं। चुप बैठो। जो बताया गया है उसे ही करो। बाल्टी (यानि तंत्र) को धक्का मत दो।

यह प्राकृतिक है कि यह लोग धीरे-धीरे वैसे बन गए हो जिनका सुंदर चित्रण एडमंड टेलर ने अपनी पुस्तक ***रिचर बाई एशिया*** में किया है। इसमें वो 'साहिब-रोग' का जिक्र करते हैं। इसमें मन में ऐसा पक्का विश्वास हो जाता है कि जिन लोगों की आप मदद करने निकले हैं, उनकी सहायता ही नहीं की जा सकती है और शायद वो मदद के काबिल भी नहीं हैं। इसलिए बहुत से शिक्षक अपने काम और जीवन में जिन व्यर्थताओं और कुंठाओं को महसूस करते हैं उन्हीं के कारण वे उन बच्चों से सक्रिय घृणा करने लगते हैं जिन्हें वे पढ़ाने के लिए आए थे। अपनी पुस्तक में जौनोथन कोज़ोल ने इस घृणा की सीमा को दर्शाया है और उसके वीभत्स नतीजों का उल्लेख किया है। एक वर्ष रौक्सबर्ग के स्कूलों में किसी स्थाई शिक्षक के स्थान पर पढ़ाने के दौरान उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और कहा उसे उन्होंने इस पुस्तक में संजोया है। अपनी पुस्तक में उन्होंने नामों और पतों को बदल दिया है जिससे कि किसी विशेष शिक्षक को पहचा पाना असंभव हो। उनकी बाकी कहानी पूरी तरह सच है।

यह कहानी निर्दयता और क्रूरता की एक अविश्वस्नीय कथा है। उनकी पुस्तक का प्रमुख शिकार - और वो केवल अकेला नहीं स्टीफन नाम का नीग्रो लड़का है। 'वो आठ वर्ष का है, छोटा, दुखी और बीमार। वो एकदम भीरू प्रकृति का बच्चा है। मैसाच्यूसेट्स की सरकार ही उसकी देखभाल करती है। हर रोज़ वो स्कूल आने से पहले ही बुरी तरह पिटता है।' इस मासूम, निरीह, छोटे से बच्चे को किस तरह लताड़ा जाता है उस अत्याचार का वर्णन करना भी असंभव है। उसे चित्रकारी में मज़ा आता है और वो बहुत कल्पनाशील तस्वीरें बनाता है, परंतु उससे कला के शिक्षक को क्योंकि दिए गए चित्रों में रंग भरवाना ही अच्छा लगता है इसलिए वो स्टीफन का काम देखकर उसपर दहाड़ते हैं। हम यह न भूलें कि स्टीफन केवल आठ वर्ष का है। 'मुझे अपना चित्र दो! तुम्हारे रंग चारों तरफ फैले हैं! देखो तुमने यह क्या किया! फिर सारे रंगों को आपस में मिला दिया! मुझे नहीं पता कि हम इस धूर्त बच्चे पर क्यों कागज़ बर्बाद कर रहे हैं! कचरा! बेकार! और कचरा एक ऐसी चीज़ है जो मैं नहीं स्वीकार करूंगा।' स्टीफन के शिक्षकों को यह पता था कि बालक पहले से ही दुखी था, उसका अपने दिमाग पर नियंत्रण नहीं था परंतु उसके बावजूद शिक्षक उसे बांस की लचीली, लंबी सोंटी से हाथ पर मारते थे। कोज़ोल के अनुमान के अनुसार, 'यह पिटाई महीने में एक बार तो अवश्य होती थी, पर बाद में यह हफ्ते में एक-दो बार होने लगी।' एक अन्य बच्चे जिसकी उंगली में चोट थी को भी बांस की छड़ी से हाथ पर मारा गया। इससे उसकी उंगली की चोट इतनी गंभीर हो गई, कि अगले कई दिन उसे अस्पताल में गुजारने पड़े। जब उस बच्चे की मां ने स्कूल के प्रशासन से इसकी शिकायत की तो उन्होंने उस पिटाई को 'सही' करार दिया। स्कूल के प्रशासन ने एक काम और किया। उन्होंने इस बच्चे को 'जल्दी ठीक होने' का एक कार्ड अस्पताल में अवश्य भेजा।

यह घटना एकदम वीभत्स लगती है, लगता है किसी ने झूठ-मूठ की कहानी रच दी हो। अब देखिए कि बच्चों को छड़ी से मारने के बारे में शिक्षकों की क्या राय है। 'जब आप मारते हैं तो आप कस कर, पूरा दम लगा कर मारते हैं नहीं तो उस सज़ा का बच्चे पर कोई असर ही नहीं होगा।' 'बेंत को रात भर सिरके या पानी में डुबाने से पिटाई के समय बच्चे के हाथ में मिर्ची जैसी लगती है।' जब कोज़ोल ने इस प्रकार की पिटाई को कानून के खिलाफ बताया तो एक शिक्षक ने कहा, 'कानून जाए भाड़ में। हम बस यह निगाह रखते हैं कि कोई हमें मारते हुए देखे नहीं।' एक अन्य शिक्षक ने सलाह दी, बच्चे को हमेशा अकेले में मारो जब कोई देख नहीं रहा हो और यह सुनिश्चित करो कि बच्चे के शरीर पर कोई चोट का निशान न हो। इससे अगर कभी कोर्ट-कचहरी में भी मालमा पहुंचा तो तुम उससे साफ इंकार कर सकते हो। एक बार दो बच्चों ने अपना गृहकार्य शिक्षक को जमा कर दिया था। इतने सारे कागजों में इन बच्चों का गृहकार्य नहीं छिप गया या खो गया। तब शिक्षक ने इन दोनों बच्चों को कक्षा में सामने बुलाकर उन्हें डांटा और उनपर झूठ बोलने का इल्जाम लगाया। इस प्रकार की अन्य बहुत सारी घटनाएं।

मैं खुद से पूछता हूं, 'क्या ये वीभत्स कहानियां सच हो सकती हैं? कहीं कोज़ोल की कल्पना ने उड़ान तो नहीं भरी है और अपनी नफरत की वजह से इन घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर तो नहीं लिखा है? क्या वो सच में इनका साक्षी है?' इन घटनाओं की सच्चाई पर कोई शक नहीं किया जा सकता है। स्कूल उसे एक मुसीबत खड़ा करने

वाला शैतान करार देते हैं। यह बात साफ है कि कोज़ोल ने मुसीबत से बचने के लिए प्रशासन के सामने शर्मनाक हद तक अपने घुटने टेके, और उनके आदेशों के मुताबिक काम किया। तंत्र से लड़ने की बजाए उसने लड़ाई से बचने के भरसक प्रयास किए। उस बच्चे को कौन भूल सकता है जो बतौर सजा, कई हफ्तों तक अपनी कक्षा के दरवाजे पर खड़ा रहा, और शांति से अंदर आने की निरर्थक प्रार्थना करता रहा? मैंने खुद बहुत से नीग्रो लड़कों को बातें करते हुए सुना है। वे कटुता से नहीं परंतु मजाक में, पुराने सैनिकों की तरह बॉस्टन स्कूलों के किस्से सुनाते हैं – शिक्षकों का चिल्लाना, गाली देना, दीवार से धक्का देना और छड़ी से मारना। खुद अनुभव करने के बाद मैं कोज़ोल के वर्णन को सच मानता हूं। बॉस्टन के सरकारी स्कूलों में कम-से-कम नीग्रो बच्चों के साथ बहुत ही बेहूदा, निर्दयी और क्रूर व्यवहार होता है।

कोज़ोल एक और कहानी सुनाते हैं जो शायद इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। ये वो कहानी हैं जिनमें उन्हें नीग्रो बच्चों के साथ वो काम भी करने की अनुमति नहीं मिली, जो काम अन्य शिक्षक कुछ गोरे बच्चों के साथ स्कूल में करते हैं। उदाहरण के लिए भाषा के शिक्षक ने एक गोरे बच्चे को एक मंहगी पुस्तक दी, दूसरे की ग्रीष्म कैम्प जाने में मदद की, और एक तीसरी बच्ची और उसके पालकों को मिलने के लिए बुलाया। परंतु जब कोज़ोल ने एक बार एक नीग्रो बच्चे को घर छोड़ा, या फिर वो स्टीफन को पीबॉडी म्यूज़ियम दिखाने ले गया, या फिर मिलने के लिए उसके घर गया तो उसे इन बातों के लिए फटकार मिली। कोज़ोल को आगाह किया गया कि वो कक्षा में स्टीफन को अपने पास न आने दे। इस प्रकार स्टीफन जैसे निरीह बालक के सिर्फ एक मित्र खोजने के सभी प्रयासों को विफल कर दिया गया।

एक और महत्वपूर्ण बात है। जितनी भी बार कोज़ोल अपने शिक्षण द्वारा बच्चों की रुचि जगाने और उन्हें प्रेरित करने में सफल हुआ, उतनी ही बार उसे जानबूझ कर रोका गया। उसने बच्चों के लिए इतिहास के विषय पर कुछ पूरक सामग्री तैयार की थी जिससे बच्चों को कपास कातने की मशीन और गुलामी के बीच का संबंध स्पष्ट रूप से समझ में आता। उसे बच्चों को इस सामग्री को देने से रोका गया। उसे ***मेरी जेन*** नामक पुस्तक का उपयोग करने से रोका गया। यह पुस्तक उस दक्षिणी शहर के बारे में हैं जहां पहली बार एक नीग्रो बालक किसी गोरे स्कूल में जाता है। इस पुस्तक को कमज़ोर पाठक भी बेहद रुचि लेकर पढ़ रहे थे लेकिन इसके बावजूद भी इस पुस्तक पर पाबंदी लगी। बहुत से बच्चे मार्टिन लूथर किंग जूनियर की आत्मकथा पढ़ने के बहुत इच्छुक थे। परंतु उसके बावजूद इस पुस्तक को पढ़ने की अनुमति नहीं दी गई। कोज़ोल ने बच्चों को एक कार्य दिया जिसमें वो अपनी दुनिया का वर्णन सच्चाई से कर सकते थे। बच्चों ने अपने आसपास के जीवन के सुंदर वर्णन लिखे। परंतु इस काम के लिए कोज़ोल की गहरी आलोचना हुई। पौल क्ली की कुछ पेंटिंग्स ने बच्चों को अपनी ओर आकर्षित किया परंतु इस दलील पर कि यह पेंटिंग्स बच्चों के स्तर से ऊपर की थीं, उन्हें दिखाने की इज़ाजत नहीं मिली। कोज़ोल बच्चों को यीट्स और फ्रॉस्ट की कविताएं सुनाते थे, और बच्चों को उन्हें सुनने में बहुत आनंद आता था। इन पर भी पाबंदी लगी। अंत में कोज़ोल को लैंग्सटन हयूज़ की एक कविता 'जमींदार' पढ़कर सुनाने के आरोप में उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। बहुत से बच्चों को यह कविता इतनी पसंद आई कि उन्होंने उसे कंठस्थ कर लिया।

सच्ची बात तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर हमारे शहर में बस्ती (स्लम) के स्कूलों में, उनमें पढ़ने वाले गरीब, निरीह बच्चों को जानबूझ कर फेल करने की रणनीति अपनाई जा रही है। इन बच्चों के फेल होने में ही इन स्कूलों का निहित स्वार्थ है। न तो यह स्कूल खुद सफल होना चाहते हैं और न ही किसी और को सफल होने देना चाहते हैं। अभी तक मैं कई शहरों से ऐसे कई अनुभवों के बारे में सुन चुका हूं जहां पर शिक्षक बस्तियों के गरीब बच्चों को अच्छी तरह पढ़ाने में सफल हुए हैं। हर बार प्रशासन ने इन शिक्षकों के सामने लगातार मुसीबतें खड़ी की हैं। और कुछ समय बाद इन शिक्षकों को नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है। ऐसा होने की उम्मीद भी की जा सकती है। हमारे शहरी स्कूल गरीब बच्चों के लिए जितना कम करते हैं उन्हें इस काम के असंभव होने का उतना ही बड़ा बहाना बनाना पड़ता है। इसलिए अगर कोई कर्मठ शिक्षक गरीब बच्चों को सफलतापूर्वक पढ़ाने के कार्य में सफल होता है तो उससे पूरे तंत्र थरथराता है और उसके आत्मसम्मान को धक्का

लगता है।

कोज़ोल की आवाज़ में हमें बच्चों की सहायता के लिए चीत्कार भी सुनाई देती है। हम उनकी किस प्रकार मदद कर सकते हैं? यहां श्रैग कुछ ऐसा रुख अपनाते हैं जिसके लिए कोई सहानुभूति जुटा पाना मुश्किल होगा। वो यहां आप्रेशन एक्सोडस का वर्णन करते हैं जिसमें नीग्रो माता-पिता अपने खर्च पर अपने बच्चों को बस द्वारा दूर-दराज़ के कम भीड़ वाले गोरी आबादी वाले इलाकों में पढ़ने के लिए भेज रहे हैं। मेटको प्रकल्प के अंतर्गत कुछ प्रतिशत नीग्रो बच्चों को, चंद बाहरी इलाकों के गोरे बच्चों के स्कूलों में दाखिला मिलता है। बोर्डमैन स्कूल थोड़ा प्रगतिशील है और वहां कुछ प्रयोग और नवाचार करने की छूट है। एक अन्य निजी स्कूल खुला है - न्यू स्कूल फॉर चिल्ड्रन जिसका संचालन नीग्रो स्वयं करते हैं। इनमें से अधिकांश मध्यम वर्गी हैं और स्कूल चलाने के लिए अधिकांश पैसा बाहर से आता है। इन सब नवाचारों और प्रयोगों का श्रैग खंडन करते हैं। उनके अनुसार लोगों का 'असली समस्या' से ध्यान हटाकर समस्या निदान के लिए लोगों के गुस्से, आक्रोश, ऊर्जा और पैसों को शक्तिहीन बनाया जा रहा है। इससे स्थिति और बदतर हो सकती है।

वर्तमान समय में चीज़ों को देखने का यह सामान्य तरीका हो सकता है। हम समस्याओं के ऊपर से थोपे, भारी-भरकम हल पसंद करते हैं। हम सब सामान्य कर्मचारियों की मानसिकता से ग्रस्त हैं। यहां हम कई मुद्दों पर चुनौती दे सकते हैं। पहली बात तो श्रैग की मान्यता काफी निर्दयी है। कुछ लोग एक डूबते आदमी की जान बचाने में लगे हैं। यह उनसे यह कहने जैसा है कि वे 'असली समस्या' से ध्यान हटा रहे हैं। यहां 'असली समस्या' क्या है? उस झील में से सारा पानी निकालना, जिससे वो सूख जाए और उसमें कोई कभी न डूबे। अगर यह सच भी है, तो क्या हुआ? दूसरी बात है कि हम जब कभी भी नीग्रो बच्चों के शिक्षण ने तरीके खोजते हैं - चाहें वे निजी या फिर विशेष सरकारी स्कूलों में हो, उनकी अपनी बस्तियों में हो या फिर बाहर गोरों की बस्तियों में, हर बार हम एक मिथक को तोड़ते हैं कि नीग्रो बच्चे पढ़ने में असमर्थ हैं। साथ में हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अगर नीग्रो बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ नहीं पा रहे हैं तो इसकी जिम्मेदारी न तो बच्चों की है और न ही उनके परिवारों की। इसकी पूरी जिम्मेदारी स्कूलों की है। एक तीसरी बात है जिसमें श्रैग की गहरी आस्था है - इसमें पूरे जिले के शहरी और ग्रामीण स्कूलों को जोड़ने की महानगरीय परियोजना की कल्पना है। परंतु यह योजना राजनैतिक रूप से मृत है। 1967 की गर्मियों में कुछ राष्ट्रीय शिक्षाविदों ने इस स्कीम पर कई दिनों तक विस्तृत चर्चा की। सभी शिक्षाविद सर्वसम्मति से एक ही मत पर पहुंचे कि पिट्सबर्ग को छोड़कर बाकी किसी भी बड़े शहर में यह महानगरीय परियोजना कारगर साबित नहीं होगी। शहर से दूर के इलाकों ने इस परियोजना की शुरू से ही खिलाफत की है और इसके कारण साफ और स्पष्ट हैं। इस इलाके के एक सुपरिंटेंडेन्ट, जो अपने स्कूल में कुछ नीग्रो बच्चों को दाखिल करते हैं और जिनका श्रैग काफी आदर करते हैं ने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'हमारे स्कूल का बोर्ड ऐसा कोई वोट नहीं देगा जिससे हमारा खुद का अस्तित्व ही खत्म हो जाए।'

यह बिल्कुल ठीक भी है। अच्छे और खराब स्कूल बोर्ड अपनी-अपनी स्वायत्ता चिपके रहेंगे। श्रैग को लगता है बॉस्टन और दूर इलाकों में स्थित स्कूलों को आपस में जोड़ने के पक्ष में लोग वोट देंगे। परंतु ऐसा होगा नहीं। पूर्व में लोगों ने श्रीमती हिक्स (एक समय में स्कूल कमेटी की चैयरमैन, जो मेयर के पद के लिए चंद वोटों से हारीं) को इसलिए वोट दिया था क्योंकि वे उन्हें अपने में से एक समझते थे। परंतु श्रीमती हिक्स और उन जैसे लोग, शहरी और ग्रामीण स्कूलों को आपस में जोड़ने के पक्ष में नहीं होंगे।

अंत में नीग्रो समुदाय स्वयं महानगरीय परियोजना का पक्षधर नहीं है और वो स्कूलों के एकीकरण के खिलाफ हैं। उनके अनुसार अगर हम अपने बच्चों को इन सबसे अच्छे स्कूलों में भेजते भी हैं तो अधिक-से-अधिक वहां के गोरे शासक हमारे बच्चों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार करेंगे और हो सकता है उन्हें एक-आध टुकड़े भी दे दें। उनमें से अधिकांश चाहते हैं कि नीग्रो समुदाय ही नीग्रो बच्चों के लिए स्कूल चलाएं, और अब जो हालात बने हैं उनमें शायद यह संभावना सच भी हो सकती है। कुछ लेखकों ने तो यहां तक लिखना शुरू कर दिया है कि अगर महानगरीय परियोजना कभी लागू हुई तो वो नीग्रो समुदाय के पक्ष में नहीं, बल्कि उनके खिलाफ होगी। यानी इस परियोजना के बाद नीग्रो समुदाय, शिक्षा के क्षेत्र में, कभी भी सच्ची और कारगर राजनैतिक सत्ता नहीं हासिल कर पाएगा।

इसलिए कुछ समय के लिए तो महानगरीय परियोजना एकदम निरर्थक है। ऐसी स्थिति में, रौक्सबर्ग और देश के तमाम बड़े शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले नीग्रो बच्चे, सहायता के लिए कहां जाएंगे? पहली बात तो अगर हम गोरे लोगों को एकीकरण के मुद्दे पर अधिक नहीं सताएं तो वो धीरे-धीरे इस सच्चाई को ज़रूर समझेंगे कि उनके वर्तमान स्कूल न केवल नीग्रो बच्चों के लिए, वरन गोरे बच्चों के लिए भी अच्छे नहीं हैं। उसके बाद वो उन स्कूलों को बेहतर और अच्छा बनाने के बारे में सोच सकते हैं। (बॉस्टन और कुछ अन्य शहरों में इसके होने के कुछ सकारात्मक चिन्ह दिखाई देने लगे हैं।) यहां पर हमें श्रैग की हिम्मत और सही नज़रिए की दाद देनी ही पड़ेगी। मैसाच्यूसेट्स का नस्लों के बीच गैरबराबरी के नियमों (रेशियल इम्बैलेंस लॉ) के कारण एक मांग बनी है कि जिससे धनी लोग नीग्रो समुदाय से मिलने से कतराते हैं और गरीब हैं वे नीग्रो समुदाय से और अधिक मिलते-जुलते हैं। यह मांग सही नहीं है और न ही इसका क्रियान्वन संभव है। अगर उदार गोरे लोग चाहें तो वे पृथक्करण की नीति की, आवास के क्षेत्र में खिलाफत कर सकते हैं। नीग्रो बच्चों को चार्ल्सटाउन, साउथ बॉस्टन और नार्थ एंड के निचले मध्यम वर्ग वाले स्कूलों में कैसे दाखिल किया जाए इस बात को हम अभी भूल जाएं। वे अभी व्यस्क नीग्रो, और अपने बच्चों को दूर स्थित धनी इलाकों जैसे मिल्टन, न्यूटन या वेल्सली के स्कूलों में दाखिल करने की बात सोचें। अगर हम अंत में स्कूलों में एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने की बात सोच रहे हैं तो उसके लिए गोरे लोगों का ऊपर बताए तरीके के अनुसार ही काम करना चाहिए।

इस बीच में हमारे शहर के लोग, बहुत कम साधनों के बावजूद अपने स्कूलों को बेहतर बना सकते हैं। अभी तक बहुत से अमरीकी शिक्षाविदों ने इंग्लैंड में लीचेस्टरशायर स्थित स्कूलों को देखा है। इन स्कूलों में गरीब तबकों के बच्चों को, पुरानी और खराब डिज़ाइन की ईमारतों और कम बजट के बावजूद अव्वल दर्जे की शिक्षा प्राप्त होती है। अगर हम चाहें तो हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जिन परिस्थितियों का कोज़ोल ने वर्णन किया है उनमें भी कुछ अच्छा किया जा सकता है। वो लिखते हैं, 'पढ़ने वाले छात्र अल्मारियों में जिस प्रकार की किताबें रखीं थीं उन्हें देखकर ऊबे और उन्होंने खुद को लज्जित महसूस किया।' परंतु उनसे हम यह क्यों न पूछें कि वे क्यों बोर हुए और उन्होंने अपने आपको क्यों लज्जित महसूस किया, और उसके आधार पर हम अच्छी और खराब पुस्तकों के बीच के अंतर खोजें? अगर स्कूल की पाठ्यपुस्तकें पुरानी हो गई हैं तो फिर हम क्यों न उनकी सामयिक सामग्री से तुलना करें। पुरानी किताबें जब छपीं थी तबसे दुनिया कितनी बदली है यह काम करना कोई खास मंहगा नहीं होगा? और अगर स्कूलों के पास अच्छी पुस्तकें नहीं हैं तो हम क्यों न पुरानी किताबों की दुकानों से 10-15 सेंट की बच्चों की बढ़िया, सेकंड-हैंड किताबें खरीदें? इस प्रकार की दुकाने हरेक बड़े शहर में होती हैं। इससे भी बेहतर यह होगा कि हम छात्रों को ही पैसे दें और उनसे कहें कि वे खुद बाज़ार से जाकर किताबें खरीदें। एक स्कूल के बारे में कोज़ोल कहते हैं, 'स्कूल में बच्चे लगभग एक-तिहाई समय खेल के मैदान में घूमते हुए बिताते हैं....' परंतु बंजर-से-बंजर स्कूल के मैदान में सिर्फ घूमने के अलावा भी बच्चों कई चीज़ें कर सकते हैं। अगर वहां कसरत के लिए जिम या तैरने का ताल न भी हो तो भी हम अन्य कई विकल्पों के बारे में सोच सकते हैं। संक्षिप्त में, अगर हम अपने बहाने छोड़ दें और ईमानदारी से अपने सीमित साधनों से कुछ करने की ठाने, तो भी हम बहुत कुछ कर पाएंगे।

एक अन्य बात नीग्रो समुदाय कर सकता है और उसे कई स्थानों पर उन्होंने शुरू भी किया है - और वो है कि वे अपने बच्चों की शिक्षा के लिए खुद अपने स्कूल चलाएं। वैसे, रौक्सबरी के द न्यू स्कूल फॉर चिल्ड्रन, को चलाने वाली संस्था आम नीग्रो के स्तर से कहीं धनी है, पर फिर भी यह कदम एक सही दिशा में है। बॉस्टन स्थित रौक्सबरी सामुदायिक स्कूल, जहां गरीब बच्चों को शिक्षा मिलती है, भी एक अच्छी पहल है। चिल्ड्रंस कम्यूनिटी नाम की संस्था अब कई सालों से ऐंन हार्बर, मिशिगन में, बहुत कम खर्चे में अपना काम कर रही है। अगर इस संस्था को अब कहीं से कुछ अनुदान नहीं मिला तो इसके बंद होने का अंदेशा है। इसी प्रकार बर्कली, कैलिफोर्निया का मार्टिन लूथर इन-कम्यूनिटी स्कूल और अन्य कई संस्थाएं अच्छा काम कर रही हैं।

हमें अब हारलेम और न्यूयार्क के अन्य कई भागों में नीग्रो समुदाय द्वारा किया जा रहा अच्छा काम नज़र आ रहा है। पूरे शिक्षा तंत्र को संचालित नहीं कर पाने के बावजूद वे अपने पास-पड़ोस के स्कूलों पर अपना नियंत्रण कायम कर रहे हैं। वे ऐसे संवेदनशील प्रिंसिपलों और शिक्षकों का चयन कर रहे हैं जो नीग्रो समुदाय की

समस्याओं को समझेंगे, उनका आदर करेंगे और समुदाय के बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करके बच्चों में आत्मविश्वास जगाएंगे। सीखने का उत्साह केवल वे लोग ही जगा सकते हैं जो खुद उस समुदाय का एक अभिन्न अंग हों। इस प्रकार के प्रयास शुरू हुए हैं परंतु उनके सामने अभी अनेकों चुनौतियां हैं। इन प्रयासों में मुझे कुछ भी नकारात्मक फिजूलखर्ची नहीं लगती, बल्कि यह तो उसके एकदम विपरीत हैं। ये बिल्कुल करने योग्य हैं, क्योंकि इनके द्वारा गंभीर और मुश्किल शिक्षा संबंधी समस्याओं का सीधे समाधान होता है।

इंग्लैंड में लीचेस्टरशायर के सबसे गरीब बच्चों को शायद आज सबसे अच्छी शिक्षा उपलब्ध है। जो लोग यहां शिक्षा तंत्र में परिवर्तन ला रहे हैं उन्हें भी अपना लक्ष्य इसी प्रकार का रखना चाहिए - उन्हें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि अमरीका के नीग्रो बाहुल्य शहरों के गरीब बच्चों को देश की सबसे अच्छी शिक्षा उपलब्ध हो।

1967

## गंभीर समस्या का मज़ाकिया सच

‘द वे इट्ज सपोज़्ड टू बी’ लेखक जेम्स हेंडरान

जेम्स हेंडरान एक शिक्षक हैं। कुछ साल पहले उन्होंने एक वर्ष के लिए एक गरीब बस्ती के जूनियर हाई स्कूल में पढ़ाया। यह कहानी उस साल की है। मैंने बच्चों, खासकर शहरी गरीब बच्चों को पढ़ाने से संबंधित जितनी भी किताबें पढ़ी हैं उनमें यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है। यह पुस्तक बस्ती के गरीब स्कूलों की समस्याओं की जड़ में जाती है - बच्चों को आकर्षित करने में ये स्कूल क्यों फेल हुए हैं, स्कूलों में रटने पर ज़ोर और ऊपर से थोपा गया अनुशासन जिससे बच्चों में निराशा और विद्रोह बढ़ता है।

यह शायद इस विषय पर सबसे मज़ाकिया पुस्तक भी है। हेंडरान एक प्रतिभाशाली, हास्य लेखक हैं। उनकी आंखें और कान उनके पास हो रही घटनाओं को सटीक ढंग से पकड़ती हैं। उनके वर्णन हास्य और व्यंग से ओत-प्रोत हैं। वो अपनी छात्राओं की ‘पॉप प्रतिक्रिया’ को उनका छुपा हथियार मानते हैं। विफल होने पर वे हमेशा पीछे की ओर मुड़कर उछलती हैं और ज़मीन पर धम्म से आकर गिरती हैं। पर हेंडरान कभी भी अपने स्कूल, छात्रों और अच्छी नियत वाले परंतु अकुशल प्रिंसिपल को अपने व्यंगों का आधार नहीं बनाते हैं। अधिकांश हास्य लेखकों की तरह हेंडरान बहुत ही गंभीर लेखक हैं। सबसे अच्छे व्यंग करते समय वो सबसे अधिक गंभीर होते हैं। उनकी ‘द वे इट्ज सपोज़्ड टू बी’ पुस्तक, ‘अप एंड डाउन स्टेयरकेस’ से कहीं अधिक मज़ाकिया इसलिए है, क्योंकि वो अधिक गंभीर और सच्ची है।

वर्तमान और भविष्य के शिक्षकों के लिए यह पुस्तक बहुत अधिक सहायक सिद्ध होगी। अगर कोई पुस्तक कक्षा में कुछ विलक्षण लोगों के करिश्मों का बयान करती है तो उससे हमें कुछ अधिक लाभ नहीं होता है। उनसे हमें डर लगता है और हम बहानों के अंबार में अपना सिर छिपा कर कहते हैं - हम तो साधारण लोग हैं, और हमारे बच्चे एकदम बेहूदा हैं। परंतु हेंडरान ने कोई करिश्मा नहीं दिखाया। उन्होंने बरसों की निराशा और विद्रोह के बाद अपने छात्रों को खुद पढ़ने के लिए प्रेरित किया। हेंडरान ने पहले कभी पढ़ाया नहीं था और उनके पास कोई विशेष प्रशिक्षण और हुनर भी नहीं था। जो हेंडरान ने किया उसे करने की क्षमता हम में से हरेक में है - अगर हम उसे करना चाहें तो। उनके छात्र गरीब, नीग्रो, शहरी बच्चे थे - जो अन्य बच्चों की तरह ही उजड्ड और कठोर थे। हर्बट कोहल (36 चिल्ड्रन के लेखक) की तरह हेंडरान के पास बच्चे पूरे दिन नहीं रहते थे जिससे कि वो उनके लिए स्कूल में ही एक निजी, बेहतर दुनिया बना सके। हर रोज़ हेंडरान, बच्चों और उनकी दुनिया के बीच उदासीनता, विद्रोह, और निराशा के बंधनों को तोड़ने का प्रयास करते। सातवीं कक्षा के चार छात्र थे जो बिल्कुल पढ़ना नहीं जानते थे। पर इसके बावजूद वो इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करते थे और पढ़ने की किसी भी गतिविधि में भाग नहीं लेते थे। पढ़ना नहीं आता है इस तथ्य को स्वीकार करने में छात्रों को मानहानि की अनुभूति होती थी।

गरीब बच्चों के संदर्भ में मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा का क्या मतलब है? प्रतिष्ठा - यानि अगर आप खराब हैं, तो

कोई दूसरा आपसे बदतर हो – इसी प्रकार के विचार इन बच्चों को प्रेरित करते थे। इन निराश बच्चों के पास अपने बचाव के लिए दिखावे के अलावा और कुछ नहीं था। इसलिए वे इस दिखावे की हर कीमत पर रक्षा करते थे। यह पुस्तक दिखावे और असलियत के बीच के द्वंद का पर्दाफाश करती है – चीज़ों को कैसा होना चाहिए और वे असल में कैसी हैं इनपर रोशनी डालती है। जब हेंडरान एक महीने की छुट्टी के बाद वापिस कक्षा में लौटे तो बच्चों ने उन्हें दो–टूक शब्दों में बताया कि हेंडरान के स्थान पर आई शिक्षका उनसे कहीं अच्छी थी।

श्रीमती ए. रोज़ाना उन्हें ब्लैकबोर्ड पर कार्य देती थीं। इसको लेकर जब बच्चों ने हल्ला मचाया तो शिक्षका ने हरेक बच्चे से एक कार्य–पुस्तिका रखने को कहा। बच्चों को इस पुस्तिका को रोज़ाना स्कूल में लाना था जिससे कि टीचर उनके काम को जांचकर उन्हें नंबर दे सके। असली शिक्षक यह काम करते हैं, छात्रों ने हेंडरान को बताया। जब मैंने बच्चों से कुछ कार्य–पुस्तिकें दिखाने को कहा तो वो किसी के पास भी नहीं थी। अब क्या करें? मैंने पूछा। कोई लाभ नहीं। उस शिक्षका ने हम सबसे कार्य–पुस्तिकें रखने को कहा, सब बच्चे चिल्लाए। कोई भी बच्चा कार्य–पुस्तिका नहीं भर रहा था, न ही स्कूल में लाया था, यह बात बच्चों के ज़हन में नहीं आई।

इसी तर्ज़ पर स्कूल के प्रिंसिपल ने भी शिकायत की, '.... बच्चे समय पर अपनी–अपनी सीटों पर नहीं थे, न ही उन्होंने समय पर अपनी पढ़ाई शुरू की। अधिकांश बच्चे इधर–उधर, फालतू, बिना कुछ करे घूमते रहे। इस तरह का माहौल पढ़ाई के लिए अनुकूल नहीं है।' हेंडरान ने फिर असलियत की ओर देखने की दलील दी:

मुझे नतीजों के बारे में बात करनी पड़ी .... इस सब सामग्री की संभालकर रखने की क्या ज़रूरत है .... अगर साल के अंत में उसे वैसे भी खिड़की के बाहर फेंक दिया जाएगा? उन अनुभवी शिक्षकों का अनुशासन किस काम का जो अंत में तमाशे का रूप ले? मेरी कक्षा में किसी भी छात्र ने विद्रोह नहीं किया, मैंने कहा .... अब आप ही बताएं कि कक्षा में किस का नियंत्रण बेहतर था?

पर इस सब का क्या लाभ? स्कूलों में कुछ चीज़ों के होने की अपेक्षा होती है: जैसे बच्चे कक्षा में बिना हिले–डुले बैठें, शांत रहें, पाठ पढ़ें, कार्य–पुस्तिका को भरें और परीक्षा में पास हों। परंतु अगर इनमें से कुछ भी न हो – अगर बच्चे कुछ भी न सीखें, कक्षा में विद्रोह करें, स्कूल छोड़ें यह सब भी चलेगा, परंतु आप स्कूल में कुछ तो वो काम करें जिसके लिए स्कूल बना था। परंतु अगर आप स्कूल में कुछ और करने की कोशिश करते हैं, और हेंडरान जैसे आपका नियंत्रण काम करता है और बच्चों को आपके द्वारा सुझाए काम पसंद आते हैं और वो वाकई में उन्हें करते हैं, तो आप पूरे स्कूली तंत्र के लिए एक खतरा बन जाते हैं। इसीलिए हेंडरान को स्कूल से बरखास्त कर दिया गया। परंतु यह कहानी यहीं पर खत्म नहीं होती। हेंडरान अभी भी पढ़ा रहे हैं और मैं आशा करता हूं कि वे अपने अनुभवों को लगातार लिखते रहेंगे। हमें हेंडरान जैसे लोगों की ज़रूरत है।

1968

बातचीत

मैं आपको बता नहीं सकता कि मैं यहां पर आकर कितना खुश हूं। मैं ब्रिटेन में एक जगह काउंटी में हो रहे एक कोर्स में शामिल हूं। यहां जो कुछ भी हो रहा है, या जो कुछ मैं होते हुआ देख पाया हूं उससे मैं बहुत प्रभावित हूं। मैंने शिक्षा के बारे में यहां जो कुछ भी सीखा है उसका शब्दों में वर्णन करना मुश्किल होगा। मैं अपना प्रयास अवश्य करूंगा और मुझे आशा है कि आप इसके द्वारा शिक्षा में हो रहे कुछ नवाचारों के बारे में अवश्य जान पाएंगे।

मुझे लगता है कि अमरीका और शायद इंग्लैंड में 'मिनी–ब्रिटेन' के बारे में काफी उबाऊ चर्चा चली है। कुछ लोग ब्रिटेन की सत्ता के खत्म होने से काफी दुखी हैं। मैं इंग्लैंड पहली बार 1952 में गया था और यह देश मुझे बहुत पसंद है। मुझे इस तरह की बातें गलत लगती हैं। औपनिवेशिक शक्ति के रूप में इंग्लैंड की सत्ता का क्षय 1914 से 1918 के बीच में ही हो गया। उसके बाद जो कुछ भी हुआ है वो इस सत्ता के क्षय का ही परिणाम है। मैं स्वयं एक ऐसे देश में रहता हूं जो खुद एक औपनिपेशिक शक्ति बनने का प्रयास कर रहा है। इसलिए इंग्लैंड के विश्व औपनिवेशिक सत्ता से गिरने को मैं कोई दुखद घटना नहीं मानता हूं। मैं आपसे विनती करता हूं,

और आप में से बहुत से लोग इस बात से मुझ से भी अच्छी तरह से जानते होंगे कि वर्तमान समय में ब्रिटेन का पूरे विश्व में एक भिन्न रोल और मिशन है और इसमें आप सबकी सहायता की बहुत ज़रूरत है। मेरे हिसाब से इस मिशन के दो पहलू हैं। पहले तो ब्रिटेन यह जता सकता है कि एक बड़ा और औद्योगिक देश मुक्त और सभ्य हो सकता है। दूसरे में ब्रिटेन, गोरे पश्चिमी देशों और गरीब, विकासशील और अश्वेत देशों के बीच में एक पुल बनाने का मिशनरी रोल अदा कर सकता है। धनी और गरीब देशों के बीच बढ़ती हुई खाई बहुत गंभीर और खतरनाक रूप ले सकती है। पिछले 10-15 सालों में, आर्थिक सहायता देने के बावजूद धनी और गरीब देशों के बीच की खाई लगातार बढ़ी है। अमरीका के अंदर और बाहर, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी यह खाई बढ़ी है।

यह विषय आपको शिक्षा से बहुत दूर का विषय लग सकता है। पर ऐसा है नहीं। शिक्षा द्वारा हम सभी लोग दिल, दिमाग और आत्मा का एक गुणात्मक विकास चाहते हैं, और इसका ब्रिटेन की विश्व में स्थिति, और उसके संभावित मिशन से सीधा संबंध है। जब ब्रिटेन एक औपनिवेशिक सत्ता थी तो उसका एक अलग रोल था। तब ब्रिटेन दुनिया के लोगों को क्या करना, और क्या नहीं करना है यह बताता था। जब कभी भी मैं पब्लिक स्कूलों की परंपरा के बारे में सोचता हूं तो मुझे ***स्टॉल्की एंड कम्पनी*** की याद आती है। यह पुस्तक मुझे पहले भी पसंद थी और आज भी पसंद है। वैसे किपलिंग जिस इंग्लैंड का गुणगान कर रहे थे वो मुझे नापसंद है। मुझे लगता है कि उस समय अंग्रेज जो करना चाहते थे और कर रहे थे उसका ***स्टॉल्की एंड कम्पनी*** से काफी कुछ लेना-देना था। पर मेरी राय में अब उस काल का अंत हुआ है और अब बिल्कुल भिन्न प्रकार के गुणों की आवश्यकता है। इसलिए इस प्रश्न की सार्थकता पर कुछ कहना ज़रूरी है। हम लोग जो कुछ भी कर रहे हों, हमें हमेशा एक ओर समाज और सत्ता और दूसरी ओर बच्चों के हितों के बीच एक द्वंद नज़र आता है, फिर भी तमाम कारणों से हम बच्चों के हितों की तरफदारी करते हैं। हमारे बहुत से साथी समाज और सत्ता के पक्षधर हैं और हमें डर लगता है कि अगर समाज और सत्ता की आवाज़ ज़्यादा बुलंद हुई तो बच्चों के अधिकार की बात अधिकांश लोगों को एकदम तुच्छ और महत्वहीन लगेगी। इसलिए मैं आपको एक सुझाव देना चाहता हूं - हो सकता है कि यह द्वंद वास्तविकता में हो ही नहीं।

परंपरागत शिक्षा का तरीका ज्ञान और कुशलताओं के भंडार को, हर नए बालक में प्रसारित करने पर आधारित है। इसी में समाज का, और बच्चे का हित निहित है। मेरे देश में जो छिटपुट शिक्षा में क्रांति चल रही है उसने भी शिक्षा के इस मूल आधार को कोई चुनौती नहीं दी है। अन्य शब्दों में कहें तो, शिक्षाविद इस बात पर सहमत हैं कि बच्चे क्या पढ़ें, कब पढ़ें, कैसे पढ़ें, इसे वयस्क ही निर्धारित करें। बच्चे ठीक प्रकार पढ़ रहे हैं या नहीं यह निर्णय भी व्यस्कों का अधिकार है। जो लोग इस प्रणाली को चुनौती देते हैं, उनकी संख्या अमरीका में भी बहुत ही नगण्य है। मुझे लगता है कि इंग्लैंड में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, वैसे उतनी नहीं जितनी आप चाहेंगे। मुझे यह भी लगता है कि एतिहासिक रूप से 'ज्ञान के भंडार' वाले मॉडल का अब कुछ औचित्य नहीं रहा है। घटनाक्रमों ने उसे ध्वस्त कर दिया है। इस संदर्भ में मुझे कई कहानियां याद आ रही हैं। एक मैंने कुछ समय पहले, कैलिफोर्निया में सुनी है। जिस आदमी में मुझे यह कहानी सुनाई उसने कुछ दिन पहले कैलिफोर्निया में एक बैठक में भाग लिया था जिसमें कार्य-अनुभव शिक्षा के दिग्गज विशेषज्ञ, वहां के प्रसिद्ध उद्योगपतियों और मज़दूर मालिकों को संबोधित कर रहे थे। 'हम आप सबसे यह जानना चाहते हैं कि अब से सात साल बाद आपके मज़दूरों को कैसा ज्ञान चाहिए होगा?' यह सुनकर सभा में उपस्थित सभी लोग ठहाका मार कर हंस पड़े। कुछ देर बाद लॉकहीड ऍअरक्राफ्ट कारपोरेशन के एक आदमी ने कहा, 'मैं माफी चाहता हूं, हम आपको यह तक नहीं बता सकते कि आज से सात महीने बाद हमारे कर्मचारियों को क्या ज्ञान आना चाहिए।' इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि हवाईजहाज़ उद्योग, अन्य उद्योगों की तुलना में, तकनीकी रूप से बहुत तेज़ी से बदल रहा है। मुझे लगता है कि जो कुछ भी उस आदमी ने कहा और पूरी सभा के ठहाकों को हमें सामयिक ज़िंदगी की एक वास्तविक सच्चाई समझना चाहिए।

मेरे साथ हाल ही में एक और घटना घटी। मैं केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स में कोई छह लोगों के साथ-साथ खाना खा रहा था। उनमें से दो लोग भौतिकशास्त्री थे। उनमें से एक ने अपनी डिग्री एम.आई.टी. से हासिल की थी और वो

उस समय वहीं पर कार्यरत था। दूसरे भौतिकशास्त्री ने पहले वाले से उसके अध्ययन क्षेत्र के बारे में पूछा। 'असल में दस वर्ष पूर्व मैंने 'सौलिड-स्टेट' भौतिकी में डाक्ट्रेट की, परंतु फिर मैंने उसे छोड़कर एक अन्य क्षेत्रों में काम किया, और आज जब लोग 'सौलिड-स्टेट' के बारे में बात करते हैं तो मुझे कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता है।' यह कहानी मुझे काफी महत्वपूर्ण लगती है। किसी विषय में डाक्ट्रेट हासिल करने के बाद दस वर्ष में ही उसी विषय के बारे में कुछ भी नहीं जानना, बहुत तेज़ प्रगति की निशानी है! यह कहानी इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वो वैज्ञानिक इस समय भौतिकी के क्षेत्र में जो कुछ भी कर रहा था उसका ज्ञान उसे अपने प्रशिक्षण के दौरान सीधे नहीं मिला था। मुझे इलिनौय में एक नौजवान मिला जिसने केमिकल इंजिनियरिंग का पूरा प्रशिक्षण प्राप्त किया था, परंतु वो पिछले छह महीनों से इॅलेक्ट्रानिक्स इंजिनियरिंग के क्षेत्र में काम कर रहा है और उसमें उसे बहुत मज़ा आ रहा है। कोई पूछ सकता है कि उसके लिए यह कर पाना कैसे संभव हुआ? जैसा हमें बहुत से लोग हमेशा पूछते हैं, उसने वापिस कालेज जाकर चार वर्ष तक इॅलेक्ट्रानिक्स इंजिनियरिंग की पढ़ाई क्यों नहीं की? उसने इस समस्या से पिंड छुड़ाने का तरीका खोज लिया है। इस विषय को पढ़ते समय जब उसे कोई बात समझ में नहीं आती है तो वो उसे जानने वाले किसी व्यक्ति को खोजकर उससे पूछ लेता है। इससे बढ़िया काम चल जाता है। (अभी कुछ दिनों पहले मैंने बॉस्टन के एक रेस्ट्रां में एक आदमी को यह कहते सुना कि आजकल 'पैसा' इंजिनियरों को पढ़ाने में है क्योंकि डिग्री मिलने के पांच वर्ष के अंदर ही उनका ज्ञान पुराना हो जाता है।)

हाल ही में एक पुस्तक, जिसको आप सबने भी पढ़ा होगा 'द डबल हीलिक्स' को काफी ख्याति मिली है। मैंने उसे मंगाया है परंतु क्योंकि पुस्तक अभी तक नहीं आई है इसलिए मैं उसे पढ़ नहीं पाया हूं। मैं उसे पढ़ना चाहता हूं और शायद उसे पढ़ूंगा भी। अभी तक मैंने केवल उस पुस्तक की समीक्षाएं पढ़ी हैं और उनसे मेरी उसमें रुचि जागी है। कई समीक्षाओं में लिखा है कि वॉटसन और क्रिक को बहुत से ऐसे क्षेत्रों का कुछ ज्ञान नहीं था जिसे उन्हें जानना चाहिए था, जिसका ज्ञान उनके डी.एन.ए. परमाणु के शोध के लिए अत्यावश्यक था। हमारे पारंपरिक मापदंडों के हिसाब से उन दोनों के पास सही डिग्रियां नहीं थी और वे इस शोध को करने के काबिल ही नहीं थे। परंतु उन्होंने इस अनूठे और मौलिक शोध को बहुत सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने अपने काम में उन गुणों को उपयोग किया जिन्हें स्कूल में सीखना असंभव है, जिन कुशलताओं को स्कूल मार डालता है। ये गुण हैं - गहरी जिज्ञासा, चीज़ों को समझने की काबलियत और उसका आत्मविश्वास, चीज़ों के बारे में जानने का ज्ञान, आदि। इन बेशकीमती कुशलताओं और संसाधनों से लैस होकर, न कि ज्ञान की गठरी को ढोकर, वे अपनी अनूठी खोज करने में कामयाब हुए।

मैं ऐसे अन्य कई उदाहरण पेश कर सकता हूं। इन सबका एक ही सार है: ज्ञान का भंडार इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि अब और आने वाले भविष्य में, कोई भी इंसान इस ज्ञान का केवल एक छोटा सा अंश ही ग्राहय कर पाएगा। यह एक बिल्कुल नई बात है। 1920 तक, जब हक्सली अपनी सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें लिख रहे थे, तब तक मुझे लगता है कि उन जैसे किसी होशियार आदमी, जिसके पास समय, वैज्ञानिक साहित्य और ज्ञान की पिपासा हो वैसा व्यक्ति मानवीय ज्ञान का कुछ अग्रणी साहित्य रच सकता था। परंतु पिछले चालीस वर्षों में यह संभावना अब खत्म हो चुकी है। हम जिस ज्ञान के क्षेत्र को अपने विषय मानते हैं वे बहुत तेज़ी से छोटे खंडों में बंट रहे हैं, और इसके कारण अकादमिक लोगों को एक-दूसरे से बातचीत करने में मुश्किल आ रही है। एक मानव-शास्त्री, जो स्नातक की पढ़ाई कर रहे थे, ने मुझ बताया कि मानव-विज्ञान पांच-छह, अलग-अलग, छोटे समूहों में बंट रहा है। हरेक समूह की अपना एक अलग तरीका है और समूहों में आपस में बिल्कुल बनती नहीं है। मुझे लगता है कि ऐसा ही प्रक्रिया आगे और बढ़ेगी। इसलिए ऐसे व्यक्ति, जो ज्ञान के भंडार के महत्वपूर्ण तत्वों का अपने दिमाग में समावेश करे की अब कल्पना भी करना असंभव होगा। हम कुल मानवीय ज्ञान के भंडार का केवल एक अंश ही जान पाएंगे। हम चाहें कितनी भी मेहनत करें, कितना भी प्रयास करें, हम चाहें कितने भी जिज्ञासु हों, हम प्रत्येक दिन मानव निर्मित कुल ज्ञान का कम, और कम हिस्सा जानेंगे।

एक बात और है। जो कुछ हम जानते भी हैं वो भी जल्द ही पुराना और निरर्थक हो जाएगा। दूसरे शब्दों में न केवल नया ज्ञान बेहद तेज़ गति से रचा जा रहा है परंतु साथ में पुराना ज्ञान भी बहुत तेज़ गति से पुराना और

बेकार हो रहा है। यह बात हमारे अपने जीवन में भी सच लागू होती है। मैंने स्कूल में भौतिकशास्त्र पढ़ा था। कालेज के आखिरी वर्ष में मैंने भौतिकी का एक कोर्स लिया जिसके लिए हमने उस समय उपलब्ध नवीनतम पाठ्यपुस्तक को पढ़ा। उसके पहले ही पन्ने पर लिखा था कि भौतिकी के मूल नियम के अनुसार पदार्थ (मैटर) को न तो पैदा किया जा सकता है और न ही उसे नष्ट किया जा सकता है। यह 1938 की बात है। साल पूरा होने से पहले ही हमें इस वाक्य को मिटाना पड़ा, क्योंकि उसी समय किसी प्रयोगशाला में पदार्थ को नष्ट किया गया था। मुझे कुछ दबाव में आकर रासायन-शास्त्र पढ़ना पड़ा क्योंकि सभी लोगों का यह मानना था कि यह विषय मेरे लिए उपयुक्त होगा। कुछ दिन पहले मैंने अपने एक नौजवान रासायन-शास्त्र के शिक्षक को बताया कि पूरे रासायन शास्त्र के कोर्स में से मुझे केवल संयोजकता (वेलेन्स) ही याद रही है। नौजवान मित्र ने मेरी मज़ाक उड़ाते हुए हंसते हुए कहा, 'आप अपनी असली उम्र से काफी कम के लगते हैं। रासायन-शास्त्रियों ने बरसों से संयोजकता का नाम भी नहीं लिया है। यह एक ऐसा ज्ञान था जिसे भूलने पर भी मुझे कोई खास दुख नहीं हुआ। परंतु यह आपको सोचने के लिए बाध्य करता है। जो भी मैंने शास्त्रीय इतिहास, यूनानी और रोमन इतिहास के बारे में पढ़ा था उसे अब इतिहासकार सच नहीं मानते हैं। आप शायद मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे परंतु मेरे ज़माने में इतिहासकार यूनानी इमारतों को सफेद और मंदिरों जैसा पवित्र मानते थे। हमें किट्टू जैसे अन्य लोगों का आभार मानना चाहिए जिनकी वजह से हम आज जानते हैं कि यह इमारतें सुनहरे, लाल और नीले रंग से रंगी होती थीं और अगर उनके पास चमकीले 'नियोन' लाइटें होतीं तो वो उनका भी अवश्य उपयोग करते।

इसलिए एक ओर तो बहुत कुछ और जानने के लिए है, दूसरी ओर हम जो कुछ भी जानते हैं उसके भी गलत या झूठा साबित होने की काफी संभावना है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में हम जीवित कैसे रहें? बहुत से लोग मानते हैं कि इन हालातों में अपने हाथ ऊपर उठा दो और विशेषज्ञों को हर बात पर निर्णय लेने दो। परंतु अखबार के पहले पन्ने को गौर से देखने पर आपको यह बात कुछ ठीक नहीं लगेगी। पहली बात तो इन विशेषज्ञों के आपस में ही अनेकों मतभेद हैं और जब कभी ये आपस में मिलकर कोई निर्णय करते हैं वो भी अच्छा नहीं होता है। जिन लोगों के पास कुछ विशेष ज्ञान है वो शायद आज की दुनिया में समस्याओं से निबटने के लिए बिल्कुल अनउपयुक्त हों। यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात है। क्योंकि इन लोगों ने बड़ी मेहनत और समय लगाकर कुछ विशेष ज्ञान को हासिल किया है, इसलिए उनके लिए यह देख पाना बहुत मुश्किल और कष्टदायक होगा कि वास्तविक दुनिया पर उनका यह ज्ञान अब लागू ही नहीं होता है। विशेषज्ञ अपने अतीत से चिपके रहते हैं। बदली हुई परिस्थितियों में उनका पुराना ज्ञान अब लागू नहीं होता है।

इस समस्या को हम अपने देश के शिक्षा क्षेत्र में भी अनेकों रूप में देख सकते हैं। मेरे दिमाग में इसके दो स्पष्ट उदाहरण आते हैं। दो वर्ष पहले हमारी सरकार ने शिक्षा के अवसरों की गैरबराबरी को लेकर एक रपट छापी थी - कोलमैन रपट। ये बहुत सालों तक किए शोध पर आधारित थी। इसी लिए शायद इस रपट को छपने में इतना समय लगा। यह रपट काफी प्रभावित करने वाली है। इसलिए हमारे विशेषज्ञों ने सभी शहरी शिक्षा की समस्याओं को समझने के लिए इस रपट को ही अपना आधार बनाया है। परंतु दिक्कत यह है कि यह रपट और उसके सारे आंकड़े अब पुराने और निरर्थक हो चुके हैं। पूरी परिस्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। हमारे गोरे और काले समुदाय के लोगों के बीच के रिश्तों में, नीग्रो समुदाय की आकांक्षाओं में, और दोनों समुदायों के नेतृत्व में इतना बदलाव आया है कि जो कोई भी इस रपट पर अपने विचार आधारित करेगा, उसका जल्दी ही सफाया हो जाएगा। यह बात सामाजिक मामलों में और अधिक महत्वपूर्ण होगी। जब तक विशेषज्ञ अपने तथ्यों और आंकड़ों को इकट्ठा करके उनके प्रति आश्वस्त होते हैं, उतनी देर में ही परिस्थिति इतनी बदल जाती है और उनका काम ठीक नहीं होता है।

अब एक सवाल बचता है। अगर ज्ञान के भंडार और विशेषज्ञों की जानकारी, अगर मस्तिष्क में विचारों को तेज़ी से ढूसने से - उत्तर नहीं मिलता है, तो इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? इस संदर्भ में मुझे एक पत्र याद आ रहा है जो मेरी एक छात्रा ने अपने कालेज के दिनों में मुझे लिखा था। मैंने इस लड़की को नवीं कक्षा में पढ़ाया था और फिर दुबारा ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ाया था। जब वो छात्रा कालेज के दूसरे वर्ष में थी तब उसने यह पत्र मुझे लिखा था। अन्य बातों के अलावा उसने एक बिंदु पर आकर यह लिखा, 'जॉन, एक बात पर मैं तुमसे

ईर्ष्या करती हूं। तुम्हारे दिमाग में लगता है हर चीज़ 'टेप' पर है।' अमरीका में इसका मतलब होगा कि मैंने सभी बातों को समझ लिया है और उन्हें सही स्थान पर संगठित किया है आदि। मैं उस छात्रा के इस व्यक्तव्य पर उसकी कोई निंदा नहीं कर रहा हूं। अधिकांश छात्र यह महसूस करते हैं कि उनके शिक्षकों के दिमाग हर बात पहले से ही 'टेप' है। शिक्षक न केवल सब कुछ जानते हैं परंतु वो ज्ञान के अलग-अलग हिस्सों का आपस में संबंध भी समझते हैं, और उन्हें सही स्थान पर 'फिट' करना जानते हैं। इस छात्रा ने अपनी नासमझी और नादानी मुझसे ईर्ष्या होने की बात लिखी। यह सच है कि मैंने अपने विषय के बारे में काफी कुछ सोचा था। मैंने उसके पत्र के उत्तर में लिखा, 'तुम शायद इससे बड़ी गलती नहीं कर सकती हो। मेरे और तुम्हारे बीच एक अंतर है। मेरे दिमाग में सब कुछ पहले से ही टेपड् नहीं है और न ही यह कभी होगा, यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूं। न ही मुझे इसकी कोई उम्मीद नहीं है और न ही इसे मैं चाहता हूं। मैं अभी जितना अज्ञानी, अनिश्चित और अस्पष्ट हूं मैं बिना किसी फिक्र के उसी तरह अपना पूरा जीवन बिताना चाहता हूं। मछलियों के पानी में तैरने की तरह ही मैंने भी अनिश्चितता में जीना सीखा हैं। जिस तेज़ी से बदलती दुनिया में हम जीते हैं हमें उसके बारे में बहुत कम पता है और हमें उसमें लगातार बुद्धिमानी के निर्णय लेने पड़ते हैं। हो सकता है कि विशेषज्ञों को हमसे किसी विषय के बारे में हमसे बहुत ज़्यादा मालूम हो, परंतु किस विशेषज्ञ को सबसे अधिक पता है इसे पता करने का कोई तरीका नहीं है। दूसरे शब्दों में, हमें जो भी थोड़ी बहुत और अनिश्चित जानकारी उपलब्ध होती है हम उसी के आधार पर विचार और निर्णय लेकर काम करते हैं।

मुख्य बात यह है कि बहुत छोटे बच्चे यह सब करने के लिए सबसे अधिक सक्षम होते हैं। इसीलिए छोटे बच्चों के सीखने के संबंध में मैंने जो कुछ भी कहा है वो बात हरेक व्यक्ति के सीखने पर लागू होती है। एक छोटा बच्चे को शुरू में पूरी दुनिया एकदम अस्पष्ट लगती है, उसे कुछ भी समझ में नहीं आता है। परंतु वो इस अस्पष्टता से घबराता नहीं है। उसमें जानकारी और ज्ञान का अभाव होता है। वो बड़ी आतुरता और सक्रियता से इस अस्पष्ट लगने वाली दुनिया को समझने का प्रयास करता है। परंतु उसके दिमाग में दुनिया को एक सूत्र में बांधने का, उसके ढांचे और समस्त अवधारणाओं को फिट करने, सारी घटनाओं को समझने का का कोई मानसिक दबाव नहीं होता है। वो अपनी नासमझी की स्थित को बर्दाश्त करता है और विभिन्न नमूनों और समझदारी के पनपने की प्रतीक्षा करता है। मुझे लगता है कि बच्चे विश्लेषण की अपेक्षा लगातार रहस्योद्‌घाटन की प्रक्रिया से ज़्यादा समझते हैं। सच तो यह है कि बहुत जटिल परिस्थितियों को समझने में परंपरागत विश्लेषण प्रक्रियाएं एकदम नाकामयाब साबित होती हैं। जहां सौ से अधिक घटक हों, जिसमें से किसी पर भी आपका सही नियंत्रण न हो, तो फिर आप विश्लेषण प्रक्रिया से कैसे चीज़ों को संगठित कर सकते हैं? ऐसा करना असंभव है और बच्चों की अद्‌भुत प्रतिभा इस बात में है कि वो ऐसा करने की कभी कोशिश नहीं करते हैं। वो इस अस्पष्टता और अनिश्चिता का बड़ी आतुरता और खुशी से सामना करते हैं। वे दुनिया की हर स्थिति का ज़ायजा लेते हैं और फिर नमूनों, समानताओं और नियमितताओं के उभरने का इंतज़ार करते हैं। छोटा बच्चा हर समय वो चीज़ करता है जिसे बड़ों के लिए करना बहुत मुश्किल काम होता है। पर इसे हम सभी को सीखना चाहिए। छोटा बच्चा अपने दिमाग में दुनिया का एक मॉडल बनाता है, और फिर लगातार जैसे-जैसे वास्तविकता उसके सामने उभरती है उसका परीक्षण करता है। ज़रूरत पड़ने पर वो मॉडल को तोड़ता है और नया बनाता है और दुबारा उसका परीक्षण करता है। बच्चा पूरे दिन में या एक साल में इस प्रक्रिया को कितनी बार दोहराता है इसका तो मुझे नहीं पता। पर बच्चा यह बिल्कुल निडर होकर करता है। स्कूल का बच्चे पर कुछ ऐसा असर होता है कि उसका इस मानसिक मॉडल को बरकरार रखने में निहित स्वार्थ हो जाता है और जो भी चीज़ें इस मॉडल में फिट नहीं होती हैं वो उन्हें नकार देता है। वो हर चीज़ को काट-छांटकर मॉडल में फिट करना चाहता है। सभी वयस्कों और बड़े बच्चों, को छोटे बच्चों के इस गुण को सीखना चाहिए। हमें वो सीखना चाहिए जो छोटे बच्चे लगातार करते हैं - यानी हमें अपने मानसिक मॉडल की वास्तविकता से साथ लगातार तुलना करनी चाहिए, उसका परीक्षण करके मॉडल को लगातार बदलना चाहिए। मुझे लगता है कि जो लोग इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न हैं, वही निश्चितता, समझ और नियमितता की खोज को त्यागकर अनिश्चितता, अस्पष्टता और अज्ञानता के माहौल में सारी ज़िंदगी, हवा में पक्षी की तरह या पानी में मछली की तरह बिता सकते हैं। इस प्रकार के लोग ही समझदारी से कुछ सोच पाएंगे।

मैं अब अपनी बातचीत बंद करूंगा, पर आप में से किसी की भी इस विषय में रुचि हो तो मुझे इस वार्तालाप को ज़ारी रखने में बहुत खुशी होगी। मैं जो कहना चाहता हूं वो बहुत सरल है - मेरा पाठ्यक्रम में कोई विश्वास नहीं है, मुझे परीक्षा के अंकों में भी कोई यकीन नहीं है, मुझे ऐसी किसी सीख में विश्वास नहीं है जिसका मूल्यांकन शिक्षक करता हो। मैं वयस्कों के सहयोग और प्रोत्साहन से बच्चों की उस सीख में विश्वास करता हूं, जिसे वे खुद सीखना चाहते हैं, जब वो सीखना चाहते हैं और क्यों वो सीखना चाहते हैं। मुझे लगता है कि शिक्षा का अब यही रूप होना चाहिए।

प्रश्न: आपने वास्तविकता के उस मॉडल का उल्लेख किया जिसका लगातार असली दुनिया पर परीक्षण किया जाना चाहिए। साथ ही आपको इसके लिए विश्लेषण का तरीका सही नहीं लगा। ऐसा क्यों?

उत्तर: यह कुछ परिस्थितियों के लिए ठीक हो सकता है। विश्लेषण से यहां मेरा मतलब प्रयोगशाला में किए गए विश्लेषण से था। अगर कोई विशिष्ट घटना, किन्ही पांच कारणों से होती है, तो हम उन घटकों को अलग-अलग करके उनमें से स्थिर रहने वाले घटक को छांटते हैं। यह तरीका उन परिस्थितियों में काफी उपयोगी होता है जहां घटकों की संख्या सीमित होती है और वो हमारे नियंत्रण में होते हैं, और जहां वे एक-दूसरे से बहुत जटिलता से जुड़े हुए नहीं होते हैं। जब हम इसी तरीके को मनोविज्ञान के क्षेत्र में लागू करते हैं, जब हम एक भौतिकशास्त्री या रासायनशात्री की हैसियत से मनुष्य के मस्तिष्क का विश्लेषण करते हैं तब मुझे लगता है कि हम हंसी का पात्र बनते हैं। साफतौर पर अधिकांश मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं सोचते हैं। परंतु मुझे लगता है कि वे मेरे मत से सहमत होंगे। मुझे मनोवैज्ञानिक मापन पर कोई विश्वास नहीं है। मेरी राय में इसे करना असंभव है।

प्रश्न: क्या आप स्कूल जाने की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं?

उत्तर: नहीं। पिछले दो महीनों में मैंने इस प्रश्न पर सोचना शुरू किया है। उससे पहले मैंने स्कूल जाने की अनिवार्यता को स्वीकारता था और मुझे अपनी सामर्थ्य में इसे बदलने का कोई तरीका भी नहीं दिखता था। परंतु अमरीका में बहुत से दुखी पालकों के साथ बातचीत और उनके पत्रों से बाद मुझे यह कार्य अब असंभव नहीं लगता है। पालकों के पत्रों का एक ही सार था, 'मेरे बच्चे को स्कूल तबाह कर रहा है। मैं इसके बारे में क्या कर सकता हूं?' इस प्रश्न का संभावित उत्तर काफी लंबा होगा। कानून 'सारे उपचारों के उपयोग' की बात करता है, पर इसके लिए अभी बहुत से उपचारों का परीक्षण करना होगा। 'अगर इनमें से कोई भी उपचार काम नहीं करता है, अगर कोई भी विकल्प नहीं बचता है, तो मेरा सुझाव होगा कि आप अपने बच्चे को अधिक-से-अधिक स्कूल से दूर रखने की कोशिश करें। तब आप स्कूलों की यह मांग कि - बच्चा स्कूल में मौजूद हो, को चुनौती दे पाएंगे।' मुझे अपने यहां के कानूनी ढांचे में यह प्रश्न नागरिक स्वतंत्रता का सवाल लगता है। स्कूलों और उनमें अनिवार्य हाज़िरी के औचित्य का एक आधार है - कि स्कूल बच्चों की सहायता के लिए काम करते हैं। परंतु अगर सच में ऐसा नहीं है, तो बच्चों के अनिवार्य रूप में स्कूल में हाज़िर होने का आधार तब खत्म हो जाता है। मैंने इस बारे में आगे सोचा और मुझे लगा कि यह नियम-कानून स्कूलों और शिक्षकों के हितों में भी नहीं हैं। अमरीका में, और मुझे लगता है कि इंग्लैंड में भी, स्कूल में अनिवार्य हाज़िरी के नियमों ने, स्कूलों को जेल में तब्दील कर दिया है। यह बहुत मुश्किल काम है। बच्चे स्कूल में केवल इसीलिए हैं, क्योंकि वे वहां जाने को मज़बूर हैं इससे तमाम बड़ी और मंहगी समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। हमारे शहरों में असभ्यता और बर्बरता की विकराल समस्याओं के कारण अमरीका में स्कूलों के बाहर एक 'साईक्लोन फेंस' यानी चोरी निरोधक बाड़ का होना एक आम बात है। अमरीका में किसी भी ज़मीन के टुकड़े के बाहर इस प्रकार की बाड़ देखकर आपको यह पता लग जाता है कि या तो वो अमरीकी सरकार का कोई उपक्रम है या फिर कोई स्कूल है। यह बहुत दुखद बात है। मैंने अमरीका के एक बड़े शहर के स्कूली सुपरिंटेंडेंट को कहते सुना कि उसे हर साल टूटी खिड़कियों के कांच लगवाने में लाखों डॉलर खर्च करने पड़ते हैं। खिड़कियों के कांचों को कौन तोड़ता है? उन्हें बच्चे तोड़ते हैं। वे क्यों तोड़ते हैं? वे उन्हें इसलिए तोड़ते हैं क्योंकि वे उन इमारतों से सख्त नफरत करते हैं। कई वर्ष पहले अमरीका में एक कविता लिखी गई थी - 'कारखानों की खिड़कियां हमेशा टूटी होती हैं।' मुझे उस कविता की केवल आखिरी दो पंक्तियां याद हैं: 'लगता है कुछ, डेनमार्क में सड़ा है। कारखाने की खिड़कियों के गाने का

अंत।' कविता का सार था कि कारखानों की खिड़कियां हमेशा इसलिए टूटी होती हैं क्योंकि लोग कारखानों से नफरत करते हैं और जो लोग इन उद्योगों को चलाते हैं उन्हें इस समस्या के बारे में गंभीरता से सोचना चाहिए। मुझे लगता है कि स्कूलों के लिए भी यह बात उतनी ही सच है। तोड़-फोड़ के अलावा, हमारे यहां और शायद आपके यहां भी, कई प्रकार के विशेष सुधार स्कूल हैं जिससे कैद करने का यह धंधा बहुत जटिल और मंहगा हो जाता है। सभी कैदी जेल में हैं यह सिद्ध करने के लिए तमाम तरह के दस्तावेज रखने पड़ते हैं। अगर वो जेल में नहीं हैं, तो फिर वे कहां हैं, और क्या उन्हें वहां रहने का अधिकार है। आप सभी लोग जानते होंगे कि अगर कक्षा स्कूल से नफरत करने वाले एक-दो लोग भी हों, तो उससे कक्षा के माहौल पर क्या फर्क पड़ता है। इससे आपके लिए, उनके लिए और अन्य छात्रों के लिए कक्षा का वातावरण एकदम खराब हो जाता है। बहुत कम संख्या में होने के बावजूद ऐसे छात्र बहुत अधिक समस्याएं खड़ी करते हैं।

मैं कोई भविष्यवक्ता तो नहीं हूं। पर अगर स्कूलों में अनिवार्य हाज़िरी के नियम अगर खारिज होते हैं या उनमें कुछ ढील आती है तो उससे किस प्रकार के परिवर्तन आएंगे, उनका मैं कुछ अनुमान लगा सकता हूं। फिर बच्चे किस प्रकार की संस्थाओं में अपना समय बिताएंगे? बच्चों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए स्कूल किस प्रकार के कदम उठाएंगे? हमारे देश में बड़ी व्यंगात्मक स्थिति है। हमारे बहुत से शहरों में स्कूल इतने खराब हैं कि उनमें दस वर्ष बिताने के बाद बच्चे उनसे घृणा करने लगते हैं, और स्कूल छोड़ देते हैं। यह सब करने के बाद हम स्कूलों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए, जिससे कि बच्चे उनमें वापिस आएं, अथाह धनराशि खर्च करते हैं। इसके लिए शायद हमें पहले ही कुछ करना चाहिए था। अगर बच्चे शुरू में ही स्कूल के खराब होने के कारण उसे छोड़ देते तो उससे हम जैसे शिक्षाविदों को पहले ही एक संदेश मिल जाता, कि बच्चों की इस फैक्ट्री के लिए हमें कुछ करना चाहिए। मैं खुद एक स्कूल शिक्षक रह चुका हूं और अपने अनुभव से कह रहा हूं कि अधिकांश शिक्षकों की यह मान्यता है कि अगर बच्चे ने स्कूल से एक दिन की भी छुट्टी ली है तो उसका वो दिन बरबाद हुआ है। स्कूल के बाहर भी बहुत सारी जगहें हैं जहां बच्चे बहुत कुछ सीखते हैं। मुझे याद है कि मेरे मित्र बिल की सबसे छोटी बेटी, अपने ही काम की व्यस्तता के कारण, कभी-कभी स्कूल नहीं जाती थी। उसे स्कूल से भी अधिक ज़रूरी कुछ काम करने होते थे। मेरी राय में यह बिल्कुल ठीक था। तो फिर हम फिर अपने प्रश्न पर वापिस आते हैं। मुझे नहीं मालूम कि इस परिवर्तन को आने में कितना समय लगेगा। शायद यह स्थिति कभी न बदले। परंतु कम-से-कम मैं अपने देश में, इस विषय के बारे में लिख रहा हूं और लोगों से बातचीत कर रहा हूं।

प्रश्न: क्या आपके पास इसके किर्यान्वयन का कोई ठोस कार्यक्रम है?

उत्तर: मुझे आपके देश के शैक्षणिक नियम-कानूनों के बारे में नहीं पता है। पर मेरे देश में यह नियम राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा पारित किए जाते हैं। इन नियमों को वहीं बदला जा सकता है पर मुझे लगता है वैसे इसकी शुरुआत वहां से नहीं होगी। अमरीका में इन नियमों को शायद सबसे पहले न्यायालयों में चुनौती मिले। हमारे यहां कानून के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे नियमों की पहली चुनौतियां अक्सर अधिक कारगर नहीं होती हैं। एक प्रजातांत्रिक समाज में लोगों के हितों को तभी स्वीकारा जाता है जब लोग उनके लिए सतत संघर्ष करते हैं। परंतु अभी के वर्तमान कानूनों में भी कुछ संशोधन करके स्थानीय स्कूलों की मांगों को मनवाया जा सकता है।

प्रश्न: अगर छुट्टियां कुछ लंबी की जाएं और फिर स्कूलों को स्वैच्छिक रूप से खोला जाए - पूरी छुट्टी की अवधि के लिए नहीं, शायद तीन हफ्तों के लिए तब शायद आप दिखा पाएं कि जब स्कूल खुलते हैं तो उनमें बच्चे आते हैं। दूसरे शब्दों में इस उदाहरण को, कानूनी संशोधन की पूर्व-तैयारी समझा जा सकता है।

उत्तर: हां। मेरी राय में यह मत ठीक है। मेरे देश में, और यहां भी कई स्थानों पर ऐसे स्कूल हैं जहां छुट्टियों में बच्चों को अलग-अलग चीज़ें सिखाई जाती हैं। परंतु इनमें जो अपेक्षा होती है, वही होता है - यानि धनी परिवारों के बच्चे को इनसे और अधिक लाभ मिलता है। जहां के स्कूल खराब हों वहां पर गर्मी की छुट्टियों में ज़रूर कुछ रोचक पढ़ाई हो सकती है। परंतु जहां उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है वहीं पर उनका पूर्णत: अभाव होता है। फिर भी मुझे यह सुझाव महत्वपूर्ण लगता है। अमरीका में निजी (प्राईवेट) शिक्षा का एक

क्रांतिकारी मुहिम शुरू हुआ है। यह दो मायनों में क्रांतिकारी है। पहले तो यह इंग्लैंड के मशहूर समरहिल स्कूल के मायने में क्रांतिकारी है। यानि यह उन सिद्धांतों पर आधारित है कि बच्चे वही सीखें जो वे चाहें और उसे जैसे चाहें, जब चाहें सीखें। यह एक अन्य रूप में भी क्रांतिकारी है। इन स्कूलों की शुरुआत बहुत उत्हासी और नौजवान शिक्षकों ने की है। वे चाहते हैं कि उनके स्कूल शहर के बिल्कुल पास में हों, वो बोर्डिंग स्कूल की बजाए केवल दिन का स्कूल हो, जिससे कि पूरे समुदाय को उसका लाभ पहुंचे। ऐसे खुले, चारदीवारी विहीन स्कूलों में बच्चे अपने समुदाय में जब चाहें जाने को मुक्त होते हैं और समुदाय के लोग भी जब चाहें स्कूल में आ सकते हैं। यह स्कूल भी प्रति छात्र उतना ही खर्च करते हैं जितना कि सरकारी अनुदानों पर चलने वाले स्कूल करते हैं। इसलिए अगर सरकार कभी चाहे तो इनके नवाचारों को, सरकारी स्कूलों में भी लागू करना संभव होगा। अभी नवाचार करने वाले ऐसे बहुत से स्कूल नहीं हैं, परंतु फिर भी कुछ तो हैं और अन्य तेज़ी से खुल रहे हैं। मुझे इनके बारे में पूरे देश से लोग पत्र लिखते रहते हैं। मुझे लगता है कि नवाचार करने वाले ये स्कूल वास्तविक शैक्षिक प्रयोगशाला के केंद्र बनेंगे। इंग्लैंड में बहुत से सरकारी स्कूल ऐसे ही नवाचार केंद्रों का काम करते हैं। आपके यहां लीचेस्टरशायर में जो स्कूल हैं, अमरीका में उनका कोई समतुल्य नहीं है।

प्रश्न: हम में से बहुत से लोग आप से कई बातों पर सहमत हैं जैसे ज्ञान का भंडार अब असंगत और पुराना हो गया है। परंतु नौकरियों के लिए स्पर्धा बढ़ रही है और नौकरी देने वालों की मांग है कि छात्रों को एक निश्चित मात्रा में ज्ञान आना चाहिए। अगर हम आपकी बात को मानें तो क्या हम नौकरियों के संदर्भ में अपने छात्रों के साथ बेईमानी नहीं कर रहे होंगे?

उत्तर: अगर आप और कुछ नहीं कर रहे हों, तो शायद यह सच हो सकता है। परंतु जनशिक्षण का मतलब है, जनता की शिक्षा करना, न केवल जनता के बच्चों की। मुझे लगता है कि आज कई नौकरी देने वाले, लॉकहीड कारपोरेशन से आए आदमी जैसा ही महसूस कर रहे हैं। लॉकहीड कारपोरेशन जैसी नौकरी देने वाली कंपनियों के कर्मचारियों को अगर हरेक छह महीनों में कुछ बिल्कुल नया सीखना होता है तो इसका स्कूली शिक्षा पर क्या असर होगा इसको शायद इन कंपनियों ने ठीक तरह से सोचा नहीं है। इसलिए किसी को उन्हें इसके बारे में बताना होगा। हम कुछ कंपनियों को विशेषकर जहां बहुत तेज़ी से परिवर्तन हो रहे हैं यह समझा सकते हैं स्कूल में अब बच्चों को पूरे जीवन के लिए शिक्षा देना संभव नहीं होगा। और अगर इस प्रकार का प्रयास किया भी गया तो उससे बच्चों को लाभ की बजाए नुकसान अधिक होगा। ज़्यादातर नवीन उपकरण इतने मंहगे हैं और जिस तेज़ी से वो पुराने हो रहे हैं उससे उन्हें स्कूलों में या व्यवसायिक प्रशिक्षण संस्थाओं में लगा पाना संभव नहीं होगा।

मुझे लगता है कि कई क्षेत्रों में हम पुरानी पद्धति – यानी अपरेन्टिस ट्रेनिंग की ओर जाएंगे। रोचक बात यह है कि मेडिकल प्रशिक्षण के क्षेत्र में बहुत से अमरीकी इसकी महत्ता को समझने लगे हैं। मेडिकल कालेजों में चार साल के प्रशिक्षण के बाद दो साल की इंटर्नशिप करने वाले बहुत से डाक्टरों में इसको लेकर गहरा असंतोष है। मेडिकल ज्ञान का इतना अधिक विस्तार हुआ है कि किसी भी छात्र के लिए उसे मेडिकल कालेज के चार सालों में पचा पाना संभव नहीं है। मेडिकल शिक्षा में सबसे नया नवाचार कुछ–कुछ इस प्रकार का है। कालेज में आए हरेक मेडिकल छात्र को किसी सीनियर डाक्टर की देखरेख में एक पूरे परिवार की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को हल करना होगा। वो पूरे परिवार के स्वास्थ्य के लिए ज़िम्मेदार होगा और परिवार की अच्छी सेहत ही उसका केंद्रीय पाठ्यक्रम होगा। अब उसके पास पढ़ने को तमाम पुस्तकें होंगी, परंतु जो कुछ वो पढ़ेगा, प्रश्न पूछेगा, या प्रयोगशालाओं में जाएगा और जिन चीज़ों के बारे में वो जानेगा उनका सीधा लेना–देना असली ज़िंदा लोगों से होगा। ऐसा प्रशिक्षण मेरे ख्याल से एक प्रकार की अपरेन्टिसशिप ही है। मुझे लगता है कि ऐसी ही कोई पद्धति भविष्य में कारगर होगी।

हमारे वैज्ञानिक शिक्षण का कुछ ऐसा मानना है कि बिल्कुल शुरू से प्रारंभ किए बिना कोई विज्ञान में अग्रणी शोध नहीं कर सकता है। यानी प्रत्येक शोधकर्ता को हरेक सीढ़ी से होकर गुज़रना ज़रूरी है। परंतु यह यात्रा अब बहुत लंबी होती जा रही है। परंतु सच्चाई यह है कि बहुत से लोग जैसे ठोस पदार्थ भौतिकी वाला मेरा मित्र, या वो नौजवान केमिकल इंजीनियर, या फिर नोबेल पुरस्कार विजेता वाटसन और क्रिक्स, अपने क्षेत्र से हटकर विज्ञान की अग्रणी पंक्ति में काम कर रहे हैं। जैसे–जैसे पहले कदम से विज्ञान के अग्रणी चरण के बीच की दूरी बढ़ रही

है वैसे-वैसे हमें बीच की सीढ़ियों को कम करके अपने गंतव्य पर पहुंचने का प्रयास करना पड़ेगा। मैं यह भी जोड़ना चाहूंगा कि जो बच्चे अपनी रुचि और जिज्ञासा से पढ़ते हैं वे परंपरागत परीक्षाएं लेने वाले बच्चों की तुलना में किसी भी रूप में कम नहीं होते हैं। इससे मुद्दा कुछ उलझ जाता है। हमें परंपरागत स्कूली शिक्षा की खामियों के बारे में आम लोगों को जागरूक करना होगा।

प्रश्न: आप फौज या एॅअर-फोर्स कैसे रखेंगे? आप जो कुछ भी कह रहे हैं मैं उससे पूरी तरह असहमत हूं। जो देश आपके द्वारा सुझाई पद्धति को अपनाएगा वो फौज या एॅअर-फोर्स कैसे रख पाएगा?

उत्तर: मुझे यह भी नहीं पता कि वर्तमान में फौज या एॅअर-फोर्स को कैसे रखा जाता है। क्या आपका कहने का आशय यह है कि नई शिक्षा प्रणाली में कोई फौज में जाना ही नहीं चाहेगा और अगर कोई जाएगा भी तो भी वो उसमें असफल होगा।

प्रश्न: दोनों ही बाते हैं और साथ में यह भी है: हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली ज्ञान के भंडार के सिद्धांत पर आधारित है।

उत्तर: अगर हम साफ शब्दों में कहें तो पारंपरिक शिक्षा एक तरह से लोगों को गुलामी के लिए तैयार करती है। आप जानते हैं : 'आदेश तो आदेश ही होते हैं।' और अगर आपको सारी ज़िंदगी आदेशों का ही पालन करना है तो अच्छा हो कि आप इस काम को छह बरस की उम्र से ही शुरू कर दें। और अक्सर इसकी सिफारिश मैं बहुत लोगों से सुनता हूं। जब कभी मैं ऐसे लोगों से मिलता हूं जो कहते हैं कि आपके और हमारे देश में स्वतंत्रता एकदम बेमानी है और सच में ज़िंदगी एक गुलामी है। इसलिए जितनी जल्दी बच्चे उसके अभ्यस्त होंगे उनके लिए उतना ही अच्छा होगा। जब मेरी मुलाकान इस प्रकार के लोगों से होती है तो मैं उनसे कुछ ऐसा कहता हूं: अगर मैं आपकी बात पर यकीन भी करूं और मुझे यह पता चले कि मेरे निर्णय लेने की कुछ बुनियादी स्वतंत्रताएं मुझ से छीन ली गयी हैं और मैं केवल एक ऊंची तनख्वाह पाने वाला गुलाम मात्र हूं, तो भी मैं अपने बच्चों को एक बेहतर भविष्य के लिए शिक्षित करता। जब यह 'भावुक' अपील भी फेल हो जाती है तब विचारों की इस खाई को शब्दों से पाटना संभव नहीं होता है: ऐसे बहुत से लोग हैं जो इससे नहीं बचेंगे। परंतु हम व्यवस्था से यह ज़रूर कह सकते हैं कि इस प्रकार के आदेश मानने वाले उसके भी हक में नहीं हैं, क्योंकि परिस्थिति काफी जटिल है। मैं अमरीका में एक ऐसे शख्स को जानता हूं जो शिक्षकों के बड़े समूहों को यह कह कर भयभीत और त्रस्त करता है - 'जिस शिक्षक की जगह मशीन काम कर सके उस शिक्षक को हटा देना चाहिए।' मैं इसमें केवल एक चीज़ और जोड़ना चाहता हूं - कि जिस शिक्षक को मशीन विस्थापित कर पाएगी, उस शिक्षक को हटा ही दिया जाएगा। और यह बात केवल शिक्षकों पर ही लागू नहीं होती है - यह हरेक इंसान पर लागू होती है। तुम फलां करो? जैसे आदेशों को जल्द ही बहुत छोटी-छोटी मशीनों द्वारा करवा पाना संभव हो पाएगा। एक काम जो मशीनें नहीं केवल मनुष्य ही कर पाएंगे वो है नई और बदलती हुई परिस्थितियों के बारे में मौलिक चिंतन और इस काम के लिए आदेश पालन करने वालों की कुशलताएं एकदम बेकार सिद्ध होंगी।

प्रश्न: जिस समाज का आप वर्णन कर रहे हैं उसका ढांचा कैसे उभरेगा और उसमें स्थिरता कैसे आएगी? आपके अनुसार एक बहुत जटिल व्यवस्था के समक्ष जिस प्रकार एक बच्चे की सहज प्राकृतिक प्रतिक्रिया होती है उसी तरह हमें भी अपने परिवेश को देखना चाहिए। परंतु छोटे बालक को माता-पिता की ठोस निश्चितता और सुरक्षा उपलब्ध होती है। क्या आपको समाज में इस प्रकार का कोई समतुल्य ढांचा दिखता है जिसका हम सहारा ले सकते हैं? क्या आप इसके लिए कोई अन्य ढांचा सुझा सकते हैं?

उत्तर: अगर समाज में यही नियमितताएं, नमूने और ढांचे हैं तो बच्चे उन्हें खोज लेंगे। मुझे लगता है कि यह आपके प्रश्न का परोक्ष उत्तर है। परंतु आपके प्रश्न जैसा ही एक अन्य सवाल मुझसे बहुत बार पूछा जाता है। इसलिए मैं दोनों प्रश्नों का जवाब एक साथ देने का प्रयास करूंगा। कभी-कभी मुझसे विज्ञान में प्रशिक्षित लोग पूछते हैं, 'क्या आप हरेक बालक से पहिए को दुबारा आविष्कार करने को तो नहीं कह रहे हैं?' पिछली बार जब मुझसे यह सवाल पूछा गया उस समय मैं कनेक्टीकट के एक हाई स्कूल में था और मैं एक आदमी से बातचीत कर रहा था। मैं स्कूल के सामने वाले हॉल में खड़ा था और एक बड़े कांच के दरवाज़े में से स्कूल में कारों के पार्किन्ग स्टैंड को देख रहा था। वहां कोई पचास कारें खड़ी थीं और हरेक गाड़ी के चार पहिए साफ नज़र आ रहे

थे। मैंने दरवाज़े की ओर इशारा करते हुए कहा, 'उन्हें पहिए को दुबारा आविष्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका इज़ाद तो पहले ही हो चुका है और क्योंकि पहिए उनके एकदम सामने हैं इसलिए बच्चे उन्हें अवश्य देखेंगे।' हमारे समाज में जो भी नमूने, नियमितताएं, ढांचे आदि पहले से ही मौजूद हैं, उनको समाज में जी रहे लोग खुद खोज कर निकालेंगे।

प्रश्न: क्योंकि आपने समाज की अनिश्चितता और गतिशीलता का ज़िक्र किया है, इसलिए क्या आप उन ढांचों को भी परिभाषित करेंगे जो वहां अभी भी मौजूद हैं?

उत्तर: एक चीज़ आपके देश में, और मेरे देश में भी जीवन को कठिन बनाती है। बहुत सी ऐसी स्थाई, अपरिवर्तशील चीज़ें, जिन्हें बरसों से जांचा-परखा गया था और जिनसे लोग इस अनिश्चितता के संसार में सहारा ले रहे थे, वो सब अब धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं। अमरीका में आध्यात्मिक बेचैनी का यह एक प्रमुख कारण है। अन्य देश जो अमरीका की प्रगति के पथ पर चल रहे हैं उनका भी धीरे-धीरे यही हश्र होगा। हमें बहुत कम निश्चितिताओं के साथ जीवनयापन करना सीखना होगा। सांस्कृतिक परंपराओं और इंसानी विरासत के मूल्यों को शिक्षा द्वारा कैसे प्रसारित किया जा सकता है जैसे प्रश्न भी मुझसे पूछे जाते हैं। परंतु अब मनुष्य के जीवन के सच्चे पथप्रदर्शक के रूप में पारंपरिक नैतिकता, मूल्य और संस्कृति अब बहुत कम मायने रखते हैं। सच तो यह है कि जिन चीज़ों को हम अपना मार्गदर्शक व जीवन की प्रेरणा का स्रोत मानते हैं, हम उनके सहारे नहीं जीते हैं। इस कारण नौजवान लोगों की ज़िंदगी काफी मुश्किल में पड़ गई है। हमें इसके लिए कुछ अवश्य करना होगा - नए मूल्यों, या फिर कुछ पुराने मूल्यों को दुबारा रचना होगा।

प्रश्न: क्या एक छोटे बच्चे को उदाहरण के रूप में पेश करना कुछ अन्यायपूर्ण नहीं होगा - खासकर कर जब बच्चे को अपने खोजबीन के काम करने के लिए अच्छी-खासी सुरक्षा मिलती हो?

उत्तर: हो सकता है। छोटे बच्चों में सुरक्षा की मात्रा अलग-अलग हो सकती है। परंतु सच तो यह है कि छोटे बच्चे, हम बड़ों की तुलना में कहीं अधिक असहाय और निर्भर होते हैं। हम लोगों की एक ज़िम्मेदारी है - चाहें कोई भी सहारा न हो, और जिस ज़मीन पर हम खड़े हों वो हिल रही हो फिर भी हम छोटे बच्चों के मुकाबले अधिक साहसी बननें की कोशिश करें। इसके लिए जो भी उपयुक्त वस्तु मिले आप उसका सहारा लें।

प्रश्न: आप ब्रिटेन का एक अलग रोल देखते हैं। परंतु क्या इससे परिस्थिति का कोई हल निकलेगा? क्या परिस्थिति और विकट नहीं हुई है? इसलिए क्या पुरानी शिक्षा की समस्याएं अभी भी वैसी की वैसी नहीं हैं?

उत्तर: समस्याएं अब अधिक गंभीर हो गई हैं और अत्यधिक तेज़ी से बढ़ रही हैं। पारंपरिक शिक्षा का रोल दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है। हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जो बच्चे को केवल ज्ञान न दे बल्कि उसे चतुर, साधन-संपन्न, लचीला, जिज्ञासु, सीखने में कुशल, गल्तियों को भूलने में कुशल बनाए। ऐसा ही यहां अब कुछ हो रहा है और यह धीरे-धीरे और बल पकड़ेगा। यह कुछ अच्छे भले लोगों की महज़ दिमागी उपज नहीं है। वैसे मेरी राय में ऐसे लोगों की इसमें अहम भूमिका रही है। परंतु हम जो कुछ भी इस दिशा में कर रहे हैं उसकी सुरक्षा हम कई अन्य तरीकों से कर सकते हैं। और मेरे ख्याल से यह भी महत्वपूर्ण है।

प्रश्न: क्या मैं एक ऐसा प्रश्न पूछ सकता हूं जो आपको कुछ विचलित करे? आपके अनुसार अब कोई ऐसा ज्ञान का भंडार नहीं है जिसे हमें सीखना ज़रूरी हो। अगर हम अभी के लिए इसे प्राथमिक शिक्षा तक ही सीमित रखें तो क्या आपकी राय में अनुभव के ऐसे कुछ क्षेत्र हैं जिनसे हरेक बच्चे को गुज़रना चाहिए?

उत्तर: यह एक बहुत ही कठिन प्रश्न है। इसके बारे में अभी मेरे दिमाग में भी काफी अस्पष्टता है। जिन चीज़ों के बारे में मैं तीन वर्ष पहले स्पष्ट था उनके बारे में मैं अब खुद को अस्पष्ट महसूस कर रहा हूं। कुछ चीज़ों के बारे में साल भर पहले तक मेरी निश्चित मान्यताएं थीं। यह निश्चितता अब नहीं रही है। बच्चों के जीवन और उनकी बुद्धि के विकास में गणित की उपयोगिता का ही उदाहरण लें। मैंने अपनी पहली पुस्तक में इसके बारे में कुछ लिखा था कि गणित शिक्षण शायद बच्चे के मानसिक विकास में सहायक होता हो। मुझे अभी भी लगता है कि कुछ बच्चों के बारे में यह अब भी ठीक हो परंतु अधिकांश बच्चों के बारे में मुझे इस मत पर अब शक है। मुझे अब सीखने के कई और तरीके नज़र आते हैं। हमने आज दोपहर को अलग-अलग मीडिया - कविता-कला-संगीत के एक साथ कई प्रयोग किए। मनुष्य की क्षमताओं को बढ़ाने में और बच्चों के विकास में

मुझे यह कुछ चतुर समस्याओं या कुज़िनेयर छड़ों के प्रयोगों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण लगते हैं। इसके बावजूद मुझे गणित पसंद है। मैं शायद अपनी बात को इस प्रकार कह सकता हूं। लंदन में गणित शिक्षकों के एक सदस्य मंडल से बातचीत करते समय मैंने कहा था कि हमें इस बात पर काफी मनन-चिंतन करना होगा कि क्या गणित एक प्रकार की आवश्यकता है या फिर वो एक मनोरंजन है। मुझे लगता है कि गणित को संगीत की तरह ही एक मनोरंजक गतिविधि के रूप में ही देखना बेहतर होगा। मुझे संगीत से बेहद लगाव है। मुझे लगता है कि जिन लोगों को शतरंज के खेल, या गणित की पहेलियों और प्रश्नों को हल करने में आनंद आता है उन्हें इन गतिविधियों में अतिसुंदर खुशी का अहसास होता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे मुझे संगीत से मिलता है। इसीलिए इन चीज़ों को पूरा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। परंतु जब लोग कहते हैं कि अंकगणित और गणित की अन्य उच्च शाखाएं बीसवीं शताब्दी में जीने के लिए अतिआवश्यक हैं तब मैं उनसे सहमत नहीं होता हूं। मेरे देश में अंकगणित अब एक बेकार की कुशलता बन गई है। अमरीका में अब ज़्यादातर हिसाब-किताब मशीनों द्वारा किया जाता है और भविष्य में भी इसके और तेज़ी से फैलने की आशंका है। मुझे उम्मीद है कि अगले बीस सालों में स्कूल पाठ्यक्रम की सारी गणित को एक ट्रांज़िस्टर रेडियो जितने बड़े उपकरण द्वारा करना संभव हो जाएगा। इससे न केवल बुनियादी अंकगणितीय काम बल्कि वर्गमूल आदि आकलन भी काफी सरल हो जाएंगे। इस स्थिति में लोगों को अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति, त्रिकोणमिति, ठोस-ज्यामिति, कैल्क्युलस आदि सिखाना काफी हास्यास्पद लगेगा। अपने देशों की समकालीन समस्याओं के हलों के बारे में लोग, गणित के ज्ञान या उसके अभाव में, अच्छी या बुरी तरह से नहीं सोच पाएंगे। स्कूलों में जिस प्रकार की गणित पढ़ाई जाती है और इंजिनियरिंग और तकनीक के अग्रणी क्षेत्रों में शोध के लिए जिस प्रकार की गणित चाहिए होती है, इन दोनों के बीच कोई गहरा संबंध है भी, इस बात पर मुझे शक है। मुझे नहीं लगता कि जो कुछ भी आप स्कूल में पढ़ते हैं उससे आपको कम्प्यूटर को प्रोग्राम करने में कुछ मदद मिलेगी। हां, अगर कम्प्यूटरों के इस युग में हमें बच्चों को कम्प्यूटर कुशल बनाना है तो यह कुशलताएं उन्हें कम्प्यूटरों पर काम करके ही मिलेंगी। द्विघातीय समीकरणों को हल करने से इसमें कैसे मदद मिलेगी यह मुझे समझ में नहीं आता है।

प्रश्न: क्या आप पढ़ने की कुशलताओं को भी इसी नज़रिए से देखेंगे?

उत्तर: नहीं। पढ़ना इससे कुछ अलग है। यह एक और विस्फोट बम है जिसे मैं मुक्त होकर अमरीका में सभी जगह फेंक रहा हूं। इसीलिए मैं उसे यहां पर भी फेंकूंगा। वैसे अमरीका की तुलना में यहां पर मुझे लगता है कि उसका आघात कुछ कम होगा। मुझे लगता है कि बिल्कुल दूर-सुदूर के ग्रामीण इलाकों को छोड़कर बाकी स्थानों पर अधिकांश बच्चे हमारे कुछ किए बिना भी पढ़ना सीख जाएंगे। आजकल बच्चों का परिवेश पूरी तरह लिखित सामग्री से भरा होता है - अखबार, पत्रिकाएं, टेलिविजन पर लिखाई, सॉइन-बोर्ड, इश्तहार आदि। अगर हमने बच्चों को बेवकूफ और उन पर पढ़ने के अयोग्य होने का लेबिल नहीं लगाया है तो वे इस माहौल में अवश्य पढ़ना सीख ही जाएंगे। मुझे लगता है कि कुछ चीज़े अच्छी तरह से स्कूल के माहौल में की जा सकती हैं और आपके बहुत से स्कूल ऐसा करते भी हैं जिनसे बच्चे पढ़ने के बारे में भी वो खोजबीन करते हैं जो उन्होंने पहले बोलने को लेकर की थी। मुझे लगता है कि न केवल हमें बच्चों को पढ़ना नहीं सिखाना चाहिए, बल्कि पढ़ाई के दौरान जो अड़चनें आती हैं वे अधिकतर हमारे पढ़ाने के कारण ही पैदा होती हैं, न कि इस कार्य के मुश्किल होने के कारण। एक बौद्धिक कार्य के रूप में पढ़ने की प्रक्रिया - जिसमें 'फोनिक-कोड' के रहस्य को सुलझाना होता है, बोलचाल की अंग्रेजी की 45 ध्वनियों और लिखाई के 380 चिन्हों को पहचानना होता है, बोलने की जटिल क्रिया से बहुत आसान होता है। बोलने के जटिल कार्य को सभी बच्चे खुद समझकर सीख लेते हैं। इसलिए मुझे पढ़ाई के हुनर को सिखाने की कोई आवश्यकता नज़र नहीं आती है।

प्रश्न: आप चाहें तो इन कुशलताओं को उल्टा कर सकते हैं और तब भी आपके समक्ष वही समस्याएं होंगी। अगर बच्चे पढ़ना, बोलने के तरीके जैसे ही सीखेंगे तब उनको बोलने में भी वैसी ही परेशानी होगी जैसी पहले पढ़ने में होती थी। आप किसी भी कुशलता को उसके सीखने के तरीके से अलग नहीं कर सकते हैं। जिस तरह से बच्चे बोलना सीखते हैं उस प्रकार से उनके लिए पढ़ना सीखना संभव नहीं होगा।

उत्तर: मुझे शायद आपकी बात समझ में नहीं आई। क्या आप कह रहे हैं कि बच्चे बोलने के तरीके के ही

अनुसार पढ़ना नहीं सीख सकते?

प्रश्न: अगर वो उन्हें साथ-साथ न सीखें।

उत्तर: 'एक ही तरीके' से मेरा मतलब इस प्रकार है। बच्चा जब पढ़ना सीखता है तो उसमें बहुत सी बातें जुड़ी होती हैं। वो अपने परिवेश से बहुत सी बोली हुई चीज़ों को जब्ज़ करता है। फिर वो उस बोली को अपने दिमाग में व्याकरण के नमूनों में छांटता है। हां, मैंनें कई भाषाविद्ों को - जो बच्चों की पहली बोली का अध्ययन करते हैं कहते सुना है कि बच्चे शब्दों से पहले व्याकरण सीखते हैं। यानी भाषा किस प्रकार गढ़ी गई है उसकी रचना क्या है, इसके बारे में बच्चे छोटी इकाईयों के मतलब से पहले जान लेते हैं। एक काम जो बच्चे बखूबी करते हैं - वो जो भी सुनते हैं वो उसकी व्याकरण संबंधी बातों को अलग छांट लेते हैं। इस प्रकार वे अंग्रेजी व्याकरण का एक मानसिक मॉडल तैयार कर लेते हैं। शुरू में यह मॉडल काफी कच्चे होते हैं परंतु कुछ गल्तियों के बाद वो उनमें सुधार करके परिमार्जन लाते हैं। छह साल की आयु तक वे 90 से 95 प्रतिशत व्याकरण समझ जाते हैं। वे एक अन्य अत्यन्त मौलिक और सृजनात्मक प्रक्रिया से गुज़रते हैं। वे अपनी दुनिया में तमाम अलग-अलग किस्म की चीजें देखते हैं। इन चीज़ों को नाम देने से पहले बच्चे उन्हें अपने दिमाग में विभिन्न समूहों में बांटते हैं। 'अवधारणा' नाम का शब्द अमरीका में काफी लोकप्रिय है और बच्चों की 'स्कूल में सही अवधारणा' बनाने पर काफी बल दिया जाता है। परंतु सच तो यह है कि 'कुर्सी' शब्द का उपयोग करने से पहले ही बच्चा 'कुर्सी' की अवधारणा बना चुका होता है। वो कुर्सी को 'कुर्सी' उसी तरह से नहीं बुलाता जैसे आप अपने भाई को 'बिल' कहकर संबोधित करते हैं। जब बच्चा किसी कुर्सी की ओर इंगित करके 'कुर्सी' कहता है उस समय उसने अपने दिमाग में कुर्सियों के एक बड़े समूह का मानचित्र बना लिया होता है। इस मानचित्र में कुर्सियां, मेज़ों, बेन्चों, अल्मारियों और पियानो से बिल्कुल अलग होती हैं। इस प्रकार बच्चे दुनिया का वर्गीकरण करते हैं - भिन्न वस्तुओं पर अलग-अलग लेबिल चिपकाते हैं। उन्हें इन लेबिलों के उच्चारण वयस्कों से मिलते हैं परंतु किस लेबिल को किस वस्तु पर चिपकाना है इसका उन्हें खुद निर्णय लेना होता है। हमारे सिखाने की वज़ह से बच्चे बहुत कम वस्तुओं के नाम सीखते हैं। उनकी ज़्यादातर सीख खुद की खोजबीन, करके देखने के दौरान और उसमें सुधार से आता है। और जब मैं एक तरीके की बात करता हूं तो मेरा मतलब इसी तरीके से होता है। बच्चे इसी तरीके का उपयोग पढ़ना सीखने के लिए उपयोग कर सकते हैं। 'इसका क्या आशय है, उसका क्या मतलब है?' जैसे प्रश्नों से बच्चे लिखित शब्दों और बोली गई ध्वनियों के बीच संबंध स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार बच्चे बोली गई ध्वनियों में एक नमूना देख सकते हैं।

प्रश्न: आपने कहा कि बच्चे को बोलना सिखाया नहीं जाता। वे बार-बार सुधार करके ही बोलना सीखते हैं।

उत्तर: हां, वे खुद सुधार करते हैं।

प्रश्न: मुझे आपकी बात कुछ गलत लगती है। आपने कहा कि कुर्सी को 'कुर्सी' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसके चार पैर होते हैं, लेकिन घोड़े के भी चार पैर होते हैं और शायद इसलिए छोटे बच्चे अक्सर घोड़ों को 'बिल्ली' कह कर संबोधित करते हैं। जब बच्चे अन्य मर्दों को 'डैडी' कहकर बुलाते हैं तो उनको सुधारा जाता है। यहां बच्चे खुद अपने आपको नहीं सुधारते हैं।

उत्तर: बच्चे खुद अपनी बात को सुधारते हैं। यह कहते हुए मैं क्षमा चाहता हूं पर मैंने आपकी तुलना में बहुत से छोटे बच्चों को करीबी से जाना है। मैं बहुत से परिवारों को जानता हूं और मैं अक्सर ऐसे परिवारों में मेहमान की तरह जाता हूं जहां बहुत सारे छोटे बच्चे होते हैं। एक बात का मैं बहुत लंबे अर्से से अध्ययन कर रहा हूं कि छोटे बच्चे किस प्रकार बोलना सीखते हैं। जो मैंने देखा है उसमें इन अधिकांश सुधारों को बच्चों ने स्वंय किया है। सच तो यह है कि मेरे देश में अब बहुत से भाषाविद (स्पीच थेरेपिस्ट) यह मानने लगे हैं कि जिन बच्चों के मां-बाप उन्हें भाषा सुधार के लिए बार-बार टोकते हैं वे बच्चे या तो बोलना ही बंद कर देते हैं या फिर वे हकलाने लगते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार इस प्रकार का टोकना ही बहुत सी बोली संबंधी विकृतियों का मूल कारण है। मैं यहां यह नहीं कह रहा हूं कि यह बात सौ प्रतिशत केसों में ठीक है। कुछ ऐसे परिवार भी हो सकते हैं जो बच्चे की हरेक गलती को तुरंत सुधारते हों। मेरी राय में ऐसा करना उचित नहीं है। ऐसे भी बच्चे हो सकते हैं जो इस प्रकार के गलत व्यवहार और बदसलूकी को झेल कर भी उसके नुकसान से बच निकलते हों। परंतु अधिकांश

बच्चों को उनके मां-बाप हर समय नहीं टोकते हैं और न ही उनकी भाषा को सुधारते हैं। इसका कारण शायद माता-पिता का आलस्य या बच्चों के प्रति उनका आदर हो सकता है। इसके बारे में निश्चित रूप से नहीं कह सकता हूं।

प्रश्न: क्या यह सच नहीं है कि जब बच्चे बोलना सीख रहे होते हैं उस समय व्यस्क उनसे किस प्रकार बातचीत करते हैं उससे बच्चों की भाषा के विकास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है?

उत्तर: हां, बिल्कुल। बच्चा वही भाषा सीखेगा जो वो अपने आसपास सुनेगा। मेरा यह मतलब नहीं है कि बच्चे खुद भाषा का इज़ाद करते हैं, वैसे मुझे ऐसे भी बच्चे मिले हैं जो ऐसा करते हैं। मुझे कुछ समय पहले किसी ने एक छोटी लड़की के बारे में बताया जो बिल्कुल एक निजी भाषा में बोलती थी जिसे उसके माता-पिता के अलावा परिवार के केवल कुछ अन्य नज़दीकी सदस्य ही समझ पाते थे। यह लड़की अंग्रेजी बिल्कुल भी नहीं बोल पाती थी। कई, एक-जैसे जुड़वा बच्चे, सात साल की उम्र तक एक ऐसी निजी भाषा बोलते थे जिसे और कोई नहीं समझ पाता था। इस बात के पुख्ता लिखित प्रमाण हैं। आमतौर पर बच्चे वही भाषा बोलते हैं जिसे वे औरों से सुनते हैं। अगर यह भाषा कोई गैरमानक बोली होती है, तो वे उसे ही सीखते हैं। इस बारे में मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं।

प्रश्न: कुछ खिड़कियों के टूटे कांचों को छोड़कर अगर किसी समाज में आपके द्वारा सुझाए तरीके से अगर बच्चों को सिखाया जाए तो क्या वो नया समाज आज के समाज से बहुत अलग होगा?

उत्तर: हां। मेरी राय में ऐसा नया समाज आज के समाज से कहीं बेहतर होगा। मुझे हाल ही में जब यह बात समझ में आई तो उसके बाद बहुत बड़ा धक्का लगा - आज शिक्षा के नाम पर हम स्कूलों में बच्चों की आत्मा, उनके चरित्र और उनकी अस्मिता का हनन कर रहे हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'हाऊ चिल्ड्रन फेल' में जिन बौद्धिक युद्धनीतियों की बात की थी उनसे यह हानि बहुत ज़्यादा गहरी है। यह हानि बौद्धिक होने के साथ-साथ और बहुत कुछ है। ब्रिटेन में एक शख्स हैं आर. डी. लियांग - जिनसे आप में से बहुत से लोग परिचित होंगे। वो एक मनोचिकित्सक हैं और 'सिट्ज़ोफ्रेनिया' के विशेषज्ञ हैं। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'द पॉलिटिक्स ऑफ एक्सपीरियंस'। मैंने इस पुस्तक को हाल ही में पढ़ा और इससे मैं बेहद प्रभावित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने जिस बात का ज़िक्र किया है, मानसिक उपचार के बारे में नहीं जानने के कारण मुझे उसके बारे में पता नहीं था और न ही उस विषय में मैंने पहले सोचा था। उनके अनुसार जब हम लोगों पर 'सिट्ज़ोफ्रेनिया' का लेबिल लगाकर उनका उपचार करते हैं तो असल में हम उनके 'अनुभव को अवैध' घोषित करते है। इससे उनका क्या मतलब है? इसका मतलब है कि हम 'स्वस्थ्य' लोग 'सिट्ज़ोफ्रेनिया' वाले बीमार लोगों से कहते हैं कि 'तुम्हारी दुनिया को समझने की पद्धति, उसको महसूस करने का तरीका, उसके बारे में संप्रेषण का तरीका, उससे संबंधित प्रतिक्रियाएं, सभी गलत, बीमार और पागल हैं। तुम्हें हमारी तरह से चीज़ों को देखना सीखना चाहिए और हमारी ही तरह प्रतिक्रिया करनी चाहिए, और जब तुम ऐसा करोगे तब हम तुम्हें सही मानेंगे और तुम्हें यहां से जाने देंगें।' और उन परिस्थितियों में उनको कभी छोड़ा ही नहीं जाता है क्योंकि उन परिस्थितियों में उनकी हालत कभी ठीक ही नहीं होती है। किसी भी इंसान के इस तरीके से इलाज करने की मान्यता खुद अपने आप में बेहद घातक है। इससे अधिक घातक कुछ और हो ही नहीं सकता है। जब मैंने इसे पढ़ा तो मैं एकदम सहम गया क्योंकि मैंने इसके बारे में पहले सोचा ही नहीं था। मुझे लगता है कि अधिकांश स्कूलों और घरों में छोटे बच्चों के प्रति हमारा व्यवहार उनके 'अनुभवों को अवैध' करता है। हम जो कुछ भी स्कूलों में करते हैं (चाहें उसे छिपाने के लिए हम अच्छी लफ्फाज़ी भले ही उपयोग करते हों) उससे छोटे बच्चों को यह संदेश देते हैं, 'तुम्हारे अनुभव, तुम्हारी चिंताएं, तुम्हारी उम्मीदें, तुम्हारे भय, तुम्हारी इच्छाएं, तुम्हारी रुचियां सब बेकार हैं और वे कुछ भी मायने नहीं रखते हैं। बस केवल हमारी रुचियां ही मायने रखती हैं। और हम जो निर्णय लें तुम्हें वही पढ़ना चाहिए।'

मेरी राय में इससे व्यक्ति, आध्यात्मिक रूप से अपंग हो जाता है। जो व्यक्ति इससे गुज़रने के बाद भी अपनी अस्मिता, पहचान, इज़्जत-आबरू, स्वाभिमान को बचा पाता है वो सचमुच में एक अद्वितीय इंसान है। सच तो यह है कि जिन बच्चों को मैंने पढ़ाया है और मैंने केवल अमरीका के चंद मंहगे निजी स्कूलों में ही पढ़ाया है, यह बच्चे निश्चित रूप में अमरीका के सबसे उच्च वर्ग के होंगे, परंतु इन बच्चों में मुझे उनकी अस्मिता, मूल्यों और

इज़्ज़त-आबरू, स्वाभिमान की कोई गहरी झलक दिखाई नहीं दी। उनकी इस बेहद महत्वपूर्ण संपदा को कोई चुरा लेता है। मुझे अपने देश में इसके खिलाफ एक प्रतिक्रिया, एक विरोध उठता नज़र आ रहा है (मैं नौजवानों और क्रांतिकारी छात्रों और यहां तक कि हिप्पीज़ का भी घोर समर्थक हूं)। नौजवानों के विरोध की एक बात से मैं दुखी हूं और वो है कि उनका विरोध बहुत ध्वंसात्मक है। उनका एक ऐसा विरोध है जो खुद अपने आपको तबाह कर लेगा। (परंतु अब 1969 की सर्दियों में मैं उससे इतना नाखुश नहीं हूं। मुझे लगता है कि नौजवानों का विरोध हमारे समय का सबसे रचनात्मक कार्यक्रम है)। पर जब मैं बच्चों के बारे में सोचता हूं तो मुझे लगता है कि वे अपने जीवन का ज़्यादातर समय अन्य लोगों के आदेश मानते हुए ही गुज़ारते हैं। वो अपना बहुत सारा समय, बाहरी दबावों से निबटने में खर्च करते हैं। इसलिए उन्हें खुद अपने आपको जानने और समझने का बहुत कम ही वक्त मिल पाता है।

आप यह पूछ सकते हैं कि क्या यह बात स्कूलों के लिए हमेशा से सच नहीं थी? और इसके उत्तर में कहूंगा कि कुछ अंश तक तो यह बात हमेशा से ही सच थी, फिर भी स्कूल कभी भी बच्चों की पूरी ज़िंदगी नहीं निगल पाते थे। पौल गुडमैन के शोध के अनुसार, पिछली शताब्दी के अंत तक अमरीका में केवल छह प्रतिशत लोग ही हाई स्कूल पूरा कर पाते थे - कॉलेज की बात तो दूर की रही। हमारे देश में 1920 के आसपास भी यह प्रतिशत इससे बहुत अधिक नहीं था। इसलिए बच्चे अपने आपको पहचान पाते थे और अपनी क्षमताओं को समझ पाते थे और फिर वो इंसान की हैसियत से अपनी अस्मिता और स्वाभिमान से अवगत होते पाते थे। और उनमें से जो लोग पढ़ाई में प्रवीण होते थे, जिन्हें पुस्तकें अच्छी लगती थीं और जो यह सब बातें कर पाते थे वो कुछ विशेष प्रकार के कामों में लग जाते थे। परंतु हमारे देश में अब हमने हरेक इंसान को इस विशाल रस निचोड़ने वाली मशीन में झोंक दिया गया है। और इसके कारण बहुत अधिक बरबादी हो रही है।

अब मैं उन चीज़ों पर वापिस जाऊंगा जिनके बारे में पहले बातचीत कर रहा था। मुझे लगता है कि नस्लवाद का तनाव, गरीबी की समस्याएं आदि का अगर कभी निवारण होना है तो इनके लिए हमें ऐसे लोग चाहिए होंगे जिन्हें खुद से तसल्ली हो, ऐसे लोग जो क्रोध, द्वेष और निराशा से मुक्त हों और तभी वो दरियादिली और दूरदर्शिता से काम कर पाएंगे। आज के ढर्रे से इंसानी नस्ल बहुत आगे नहीं जा पाएगी। मुझे यह नहीं पता कि इस कार्य को करने के लिए हमें कितना समय बख्शा गया है परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि हमें निकट भविष्य में एक क्रांतिकारी, एक नए मनुष्य की आवश्यकता है।

प्रश्न: जिस प्रकार की शैक्षणिक व्यवस्था की आप कल्पना कर रहे हैं उसके लिए आप इतनी अधिक मात्रा में शिक्षक कहां से लाएंगे?

उत्तर: सामान्य तौर पर मैं कहूंगा कि शिक्षकों को उनके प्रशिक्षण के दौरान वही अनुभव मिलने चाहिए जिनको हम चाहते हैं कि वो बच्चों को बाद में दें। उन्हें ट्रेनिंग के दौरान स्वंय खोज द्वारा, सीखने की उत्तेजना का मज़ा मिलना चाहिए। इस साल मैं शिक्षा के कुछ कोर्स पढ़ाऊंगा - एक हावर्ड विश्वविद्यालय में और कुछ कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में। मैं जो कुछ कह रहा हूं उन्हें इन कोर्सों में ठोस रूप में लागू करने का प्रयास करूंगा। मेरे कोर्स में गृहकार्य, परीक्षाएं और अंक नहीं होंगे। मैं छात्रों को संसाधनों (रिसोर्सिस) की एक सूची दूंगा और यहां संसाधनों से मेरा मतलब केवल पुस्तकों से नहीं है। उनमें नियमित रूप से स्कूलों में जाना, लोगों से बातचीत करना और विभिन्न स्थानों पर जांच-पड़ताल करना शामिल होगा। मैं कहूंगा: अगर आप इनमें से किसी के भी बारे में और अधिक जानना चाहते हैं जिसे आपने पढ़ा, देखा या जिसपर शोध किया है तो आपके साथ उन पर चर्चा करके मुझे बहुत खुशी होगी। परंतु आपको खोज खुद करनी होगी! देखिए, वहां कुछ अच्छा काम चल रहा है इसलिए आप वहां जाकर उसे देखें। मुझे नए शिक्षण को करने का मूल रूप से यही एक तरीका नज़र आता है। यह काम काफी मुश्किल होगा। (कुछ को यह अच्छा नहीं लगा, कुछ ने इस काम को छोड़ दिया, परंतु बहुत से लोगों को यह अनुभव काफी महत्वपूर्ण और मज़ेदार लगा।)

पत्र

प्रिय डा. ब्लिस,

... मेरी राय में बच्चे तभी सबसे अच्छा सीखते हैं जब वे खुद किसी चीज़ को सीखना चाहते हैं। वो खुद ही निर्णय लेते हैं कि वो उसे कब और कैसे सीखेंगे। वे किसी चीज़ को किसी के कहने से नहीं, बल्कि अपनी खुद की जिज्ञासा शांति के लिए सीखते हैं। मुझे लगता है कि अगर हम आज के बोझिल पाठ्यक्रम को आंशिक या पूरी तरह से हटा देंगे तो उससे सीखने की प्रक्रिया बहुत बेहतर होगी। मुझे परीक्षाओं, टेस्टों और अंकों आदि का सीखने की प्रक्रिया में कोई भी उपयोगी रोल नज़र नहीं आता है। उल्टे यह सब चीज़ें सीखने की प्रक्रिया में बाधक हैं। स्कूलों में अक्सर बच्चों को उनकी क्षमताओं के आधार पर अलग-अलग समूहों में बांट दिया जाता है। मैं इसके पूरी तरह खिलाफ हूं। मुझे लगता है कि अक्सर पढ़ाने का तरीका ही सीखने की प्रक्रिया में बाधा बनता है - विशेषकर पढ़ने में। मुझे लगता है कि अगर बच्चों को बिल्कुल भी न पढ़ाया जाए तो वे बेहतर रूप से और काफी सरलता से पढ़ना सीख जाएंगे। हमें कोशिश करके स्कूलों में ऐसे बहुत से लोगों को लाना चाहिए जो पेशे से शिक्षक न हों। ऐसे लोग जिनकी चिंता केवल बच्चें हों के हमेशा साथ रहने से बच्चों को कोई लाभ नहीं होगा। मैं चाहता हूं कि स्कूलों में बाहर से तमाम लोग लगातार आएं और बच्चों के साथ बाहर की दुनिया के बारे में और अपने काम के बारे में बातचीत करें। मैं चाहता हूं कि बच्चों को अपनी सीख बढ़ाने के लिए स्कूल के बाहर की दुनिया के संसाधनों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। मुझे लगता है कि स्कूलों, बच्चों और शिक्षकों के लिए अब अनिवार्य स्कूली हाज़िरी का कोई उपयोगी रोल नहीं बचा है। इसलिए इसमें या तो संशोधन करना चाहिए या फिर अनिवार्य स्कूली हाज़िरी को रद्द करना चाहिए। मेरी राय में शिक्षा बच्चों और नौजवानों की दुनिया में प्रवेश करने और उपयोगी कार्य करने में सहायता कर सकती है। परंतु हमने शिक्षा को बच्चों के रास्ते में बहुत बड़ा रोड़ा बनाकर खड़ा कर दिया है और हमें इस बाधा को उनके रास्ते से हटाने के तरीके ढूंढने चाहिए। इसलिए किसी भी कार्य को करने के लिए मैं किसी भी प्रकार की मार्कशीट या अन्य किसी भी शर्त के खिलाफ हूं। मेरी राय में हमें हरेक बच्चे और उसके द्वारा किए जाने वाले किसी भी उपयोगी सामाजिक कार्य के बीच की सभी बाधाओं को हटा देना चाहिए। हम जो कुछ भी कहते हैं उसके द्वारा सीखने और जीवन को और पृथक कर देते हैं, जबकि हमें उन्हें जोड़ने का प्रयास करना चाहिए....

आपका

जॉन होल्ट